उन्मुक्त

श्रीसियारामशरण गुप्त

AccNo = 14470
H81

जैनेन्द्रकुमार

को

श्रीराम

स्थापना

इधर बहुत दिनों से आयुष्मान् श्रीसियारामशरण को श्वास कष्ट निरन्तर रहने लगा है। बहुधा उनकी दशा हम लोगों से देखी नहीं जाती। परन्तु आश्चर्य है, रोग ज्यों ज्यों उनके शरीर को शिथिल करता है, त्यों त्यों उनका मन और भी सक्रिय हो उठता है और तनिक साँस लेते ही वे कुछ लिखने बैठ जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक लिखने में भी वे अपनी पीड़ा भूल गये हैं। यद्यपि हम लोगों को डर लगा रहा है कि इससे उनका जीवन और भी संकट में न पड़ जाय। परन्तु राम-कृपा से उन्होंने इसे पूरा कर ही लिया। यदि उनका शरीर स्वस्थ होता, तो मैं इसमें उनसे कुछ और भी कराता। वर्त्तमान परिस्थिति में तो यही मुझे अपेक्षाकृत अधिक जान पड़ता है।

संसार में इस समय जो घोर हिंसाकाण्ड हो रहा है, जिस प्रकार निरीह नागरिकों की हत्या की जारही है और विज्ञान का दुरुपयोग करके जैसा पैशाचिक प्रलय मचाया जा रहा है, उसे देखकर जिसने अपने मारक रोग की उपेक्षा करके उसके विरुद्ध अपने पाठकों की सहानुभूति प्रबुद्ध करने का प्रयत्न किया है, मेरे निकट स्वयं सफलता से उसके उद्योग का मूल्य अधिक है। किसी लेखक की सफलता के सच्चे निर्णायक तो पाठक ही हैं और पुस्तक उनके आगे उपस्थित है।

चिरगाँव
वैशाख कृष्ण २–'९८

मैथिलीशरण

श्रीः

अवतरण

[छायावन में कुसुमकुञ्ज]

कुसुमावती

व्यग्र विकल उर चौंक चौंक उठता है रह रह,
घटित न जानें हुआ कहाँ क्या क्रूर भयावह।
भूली-सी मैं भटक रही हूँ अपनेपन में,
मैं विदेशिनी हुई आप अपने मन ही में।
किस सुदूर का त्रास, कहाँ का संशय आया,
इधर उधर सब ओर सघन तम ही तम छाया।
लाया क्या यह, नहीं समझ पाती मति मेरी,
आ आकर सन्निकट पिछड़ जाती गति मेरी।
भय की यह घनघटा दूर के किस सागर से
कितना प्लावन, उपलवृष्टि लाई है भर के।

न तो बरसती और न हटती ही, छाई है;
मेरे नभ में उमड़ घुमड़, गर्जन लाई है ।
सोच रही हूँ,—हुआ कहीं कुछ अशुभ, अमंगल;
निज नयनों से स्वयं देख आई मैं वह थल ।
वहीं कहीं विष-दंश कर गई रजनी काली,
नीली-सी पड़ गई यहाँ दिन की उजियाली ।
सुस्वन हुआ निरुद्ध पवन का, गन्ध मधुर का;
लीन हो गया निखिल कर्मसुखरितपन पुर का;
द्रुमदल निश्चल, नहीं गूँजती भ्रमरावलियाँ;
सुरभिदान में रुकी, बँधी-सी कुसुमाञ्जलियाँ ।
मधुतोया का सलिल कलित कल नहीं उछलता;
युग कूलों पर अचल हुई यह कौन विकलता ?

भ्रम है यह कि यथार्थ, स्वप्न है अथवा जागृति ?
यह ऐसी क्यों मुझे दीख पड़ती है संसृति ?
मुझे कमी क्या, कुसुम द्वीप मेरा निज का है,
कुसुम द्वीप यह वही,—प्रकृति ने जिसे सृजा है ।

जलधि-वक्ष पर कल्प-कमल-सा यह उठ आया,
सलिलश्री का शान्तिसदन यह है मन भाया।
चारों ओर उदार क्षेत्र प्रान्तर पुर वन हैं;
निर्झर सरित तड़ाग कुण्ड गिरिकुञ्ज सघन हैं।
जीवन यहाँ अरुद्ध, मृदुल-मारुत का झोंका,
गत जब, तब भी अगत; सुरभि का स्मरण अनोखा।
कंटक भी हैं यहाँ कुसुमकंटक मनभाये;
नर-नारी अविरोध परस्पर प्रीति बढ़ाये।
पाकर सबका स्नेह, सभी कुछ मैंने पाया,
फिर कैसा अनजान भीति, विभ्रम यह आया।
देख रही हूँ स्वयं, किन्तु पहचान न पाती;
सुनती हूँ मैं, किन्तु समझ में गिरा न आती।
कैसे ये जयकेतु यहाँ !

जयकेतु

जय हो देवी की !
पद-मर्यादा सफल आज इस पदसेवी की।
दें बस आशीर्वाद।

कुसुमावती

स्वस्ति, कल्याण अपरमित !

कहो नई क्या बात ? देख तुमको उत्साहित
मैं शंकित हूँ ।

जयकेतु

देवि, नही शंका का कारण;
लौह द्वीप से मिला हमें नव विजय-निमन्त्रण ।
प्रस्तुत हैं हम; शौर्य-सुबल हम भी हैं रखते;
जय-पथ में भय-विघ्न कहीं भी नहीं निरखते ।
लौह द्वीप की रहे न कैसी ही रण-सज्जा,
हो उसकी रणनीति निपट निर्मम, निर्लज्जा,
तब भी हम प्रतिरोध करेंगे साहस भरके,
कुसुम द्वीप को वज्र द्वीप में परिणत करके ।
देवि, आप निश्चिन्त रहें, प्रस्तुत हैं हम सब;
देखें दे आदेश, किसीसे कम हैं हम कब ।
आज्ञा हो, उठ खड़ा द्वीप होगा यह सारा;
देखेंगी, सब ओर प्राण की दुर्दम धारा
रणसागर की ओर बढ़ पड़ी; वृद्ध तरुण हैं;

तरुण और भी तरुण, निष्करुण, रक्तारुण हैं;
बालक बालक नहीं—

कुसुमावती

रहो जयकेतु, रहो तो;
लौह द्वीप का कौन अहित कर दिया कहो तो
कुसुम द्वीप ने ?

जयकेतु

पूछ रही हैं देवि, अहित की
हम सबने क्या किया शत्रु के प्रति अनुचित की ?
किया नहीं कुछ, और न कुछ करने के उत्सुक;
यही हमारा दोष, नहीं हम पर-धन-इच्छुक;
अपने में सन्तुष्ट, अवगुणों के निन्दक हैं;
यही हमारा दोष, सभीके शुभचिन्तक हैं।
क्या यह नहीं यथेष्ट, समझ लें दुष्ट दुराशय,—
हम लघु, अक्षम, अबल, हमारे भीतर है भय।

कुसुमावती

शान्त रहो जयकेतु, काम तब नहीं कलह का
कहीं किसीके साथ।

जयकेतु

देवि, कहती हैं यह क्या ?
शान्त रहें हम ! शान्त हमें अरि रहने देंगे ?
आज्ञा दें बस आप, शेष हम सब कर लेंगे ।
कुसुम द्वीप में गिरा आपकी ही चिरवन्दित,
कुसुम द्वीप साकार आपमें ही सुस्पन्दित ।
बोलेंगी जो आप, उसीमें बोल उठेगा
निखिल द्वीप यह एक साथ; हिल-डोल उठेगा
कुछ करने के लिए । आप अपने ही भीतर
रहें न यों अवरुद्ध, हो रहा है जो बाहर
डालें उस पर दृष्टि

कुसुमावती

वही मैं देख रही थी;
किस प्रदेश में कहाँ न जानें वही बही थी ।
देखा मैंने, सभी ओर घनघोर तिमिर है,
कहीं तिमिर की शान्ति नहीं, सब कुछ अस्थिर है ।
उसमें से ज्यों जाग पड़ा है विकल बवन्डर;
गगन-शाल के पके-अधपके फल-से झड़ कर

उजड़ गये ज्योतिष्क पिंड शशि, ग्रह, तारादल;
नहीं कहीं कुछ; शून्य धरातल, शून्य नभस्थल ।
फिर भी, फिर भी, बोध हुआ ऐसा कुछ मन में,
कोई कुटिल-कराल निखिल के प्रेतविजन में
शवसाधन में लीन; एक, बस एक वही है;
और अन्य वह अचल पड़ी आक्रान्त मही है ।
अनदेखे ही देख रही थी मैं उस थल में;—
किसी लोभ के ज्योतिहीन जन्मान्ध अनल में
हुआ निखिल खग्रास । प्रलय था अप्लावन का,
जिसमें पूर्ण विलोप धरित्री और गगन का ।
तब भी जानें कहाँ दूर के दूरान्तर से
कोई कहीं पुकार रहा था आहत स्वर से—
'आओ, आओ !'—नहीं श्रवण ने कुछ सुन पाया;
सीधा वह रव हृदय बीच सहसा धँस आया ।
सिहर उठी मैं एक साथ । कर सकी न निश्चय,
इसमें कितना सत्य और कितना मायामय ।

जयकेतु

मायामय कुछ नहीं देवि, है सत्य सभी यह;

ताम्र द्वीप में घटित हो चुका अभी अभी यह ।
कुछ ही पहले सुना गया है नभवाणी से
ताम्र द्वीप सब लौह द्वीप के सेनानी से
ध्वस्त कर दिया गया आज की काल निशा में ।
'आओ, आओ !' गूँज उठा यह दिशा दिशा में ।
वही करुण स्वर, वही किसी शस्त्राहत का स्वर,
जो देवी ने सुना, सूक्ष्म होकर तर-तर-तर
विश्वात्मा में परिव्याप्त है अनजाने ही,
वह विराट आह्वान प्राप्त है अनजाने ही
सबके भीतर,—इधर उधर, चहुँ ओर निरन्तर ।
सब सुन पाते नहीं, उसे करते अनुभव भर ।
सुनते हैं कुछ, समझ नहीं पाते हैं आशय,
किंकर्तव्यविमूढ़, विकम्पित हैं पाकर भय ।
सत्य कहूँगा,—रहा स्वयं मैं भी वैसा ही,
यह क्या,—यह क्या !—रहा घोर जड़ के जैसा ही !
ताम्र द्वीप तत्काल दृश्यपट पर आ झूला,—
उसकी उर्वर धरा, अनुपमा हरित दुकूला,
उसके गिरि वन, उच्च भवन, पुर, नगर सुहावन,

उसके उपवन, जनाकीर्ण पथ, पावन पुरजन,
सब दिखलाई दिये काल कवलित होते-से
धक्का खाकर जाग पड़ा मैं ज्यों सोते से।
भूल गया मैं, कुसुम द्वीप को भी है कुछ भय;
'मैं प्रस्तुत हूँ'—उठी गिरा उर में निस्संशय।
समझा मैं, यह कुसुम द्वीप मुझमें उठ बैठा,
सब प्रकार सन्नद्ध उग्र साहस में पैठा।
गया समस्त विषाद, काम ही अब क्या उसका!
सबके हित आह्वान आज निर्मम पौरुष का—
"उठो, उठो! चल पड़ो, व्यथित होने का अवसर
आज किसीको कहाँ। आज तो जीवन-संगर
समुपस्थित है!"
इसी हेतु हूँ यहाँ उपस्थित;
देवी का आदेश मात्र अविलम्ब अपेक्षित
चल पड़ने के लिए।

कुसुमावती

हाय! जयकेतु, तुम्हारा
यह कैसा उल्लास! प्राण मन मेरा सारा

उत्पीड़ित है। किस प्रकार कह दूँ,—तुम जाओ,
जाकर तुम भी विषम वैर दुर्विष बरसाओ।
मैं अपने में नहीं, हुआ ऐसा कुछ दुस्सह;
याद आ रही मुझे ताम्रदेवी की रह रह।
उसकी मृदु मुसकान सहज शुचिता-सरसावन,
उसकी बोली, स्नेहसरस, मधुमोहन पावन
लूट ली गई, देहलता होकर क्षत-विक्षत
अंग अंग में बहा रही है शोणित अविरत।
वसन छिन्न-विच्छिन्न, नहीं है सुधि कुछ तन की।
मूर्च्छित या मृत ? चली गई सब श्री आनन की।
अबला री तू हाय! कौन वह क्रूर अकुण्ठित
बलपूर्वक कर दिया तुझे जिसने रजलुण्ठित
निर्दय होकर एक साथ।

जयकेतु

वह और न कोई
कुटिल लौह को छोड़; और किसने है खोई
अपनी बुद्धि दुरन्त पाशविकता में पड़कर?
सोच रहा है वही—"शक्ति में हूँ मैं दुर्द्धर;

सबका ही स्वामित्व करूँगा मैं भुजबल से;
नहीं हटूँगा किसी छद्म-छल से, कौशल से।
सब द्वीपों की महादेवियाँ धृत हो होकर
मेरी ही रक्षिता बनेंगी, इन्हीं पदों पर
लोटेंगी वे, एक आज तो अन्य सवेरे।"
आज कुटिल दुर्भाग्य ताम्रदेवी को घेरे।
कल के दिन ही रौप्य, स्वर्ण, अथवा मणिद्वीपा
होगी कौन गृहीत, निपट निर्वापित-दीपा
नहीं किसीको ज्ञात। सभी शंकित हैं मन में।
शत्रु लालसालुब्ध विकट है लम्पटपन में;
कुशल किसीकी नहीं।

हुई दुस्सह अब देरी;
देवी दें आदेश, बजा दूँ मैं रणभेरी
महामात्य के साथ। सभी मतभेद हमारे
एक ध्येय में लीन। कुसुम जन देखें सारे
उत्थित हैं वे एक स्थान पर।

कुसुमावती

जाओ, जाओ;

जाओ तुम जयकेतु, न अब कुछ और सुनाओ।

देती हूँ सर्वाधिकार तुमको।

जयकेतु

उपकृत हूँ;

श्रीचरणों में नम्र विनय के साथ प्रणत हूँ।

उन्मुक्त

अलिन्द

(पुष्पदन्त और गुणधर)

गुणधर

आओ पुष्पदन्त, आओ !—होगा पता तुमको,
सत्य यह है क्या, शत्रु सेनाएँ उमड़के
रौप्य द्वीप तट तक आगई हैं ?

पुष्पदन्त

तुमने
यह जो सुना है, वह होगया पुराना है।
रौप्य द्वीप तो है ध्वस्त; नाम अब उसका
और कुछ हो गया है,—जैसे किसी जन की
मृत्यु हो गई हो, वह निम्न किसी योनि में

जाकर दिखाई पड़े, पोंछकर स्मृति से
अपना अतीत एक साथ।

गुणधर

कहते हो क्या ?
रौप्य द्वीप ध्वस्त हो गया है !

पुष्पदन्त

ध्वस्त होगया।
स्वर्ण द्वीप की क्या दशा, ज्ञात नहीं मुझको।
इतना सुना है, घमसान वहाँ पूरा है।
दोनों दल जूझ रहे पूरे प्राणपण से।
निश्चित नहीं है कुछ; ऊपर अधर में
वेग-भरी कन्दुक-सी घूमती विजय है
इस-उस ओर अविश्रान्त।

गुणधर

शत्रु तब तो
पास आ गया है,—अब निश्चय हुआ है क्या ?

पुष्पदन्त

निश्चय वही है, जो हमारे वीरकुल की

अमिट परम्परा में निश्चित सदा से है।
थल-जल और व्योम में भी कहीं अपना
झुकने न देंगे जयकेतु हम।

गुणधर

ठीक है;
होगा परिणाम अन्त में क्या, यह सोचा है?
क्या हम हरा सकेंगे लौह सैन्यदल को?
ताम्र ध्वस्त, रौप्य ध्वस्त, ध्वस्तप्राय स्वर्ण भी
तुम कहते हो हुआ; हम तो कुसुम हैं,
होगी क्या हमारी दशा?

पुष्पदन्त

सोचने का किसको
अब अवकाश कहाँ। निश्चित है वीरों का
एक ही सुपरिणाम; एक ही सुगति है।
मृत्यु और जीवन के इस-उस कूल में
एक ही विजयभूमि निश्चित है उनकी।
सोचूँ समझूँ क्या और? सोचना समझना
उनके लिए हो, जिन्हें शंका, द्विधा, भय है;

जिनको प्रतीति नहीं जीवन की जय की।
जीवन सदैव सर्वथैव गतिशील है।
रुकता नहीं है वह, वक्र-ऋजु पथ में
आवर्त्तों-विवर्त्तों में निरन्तर उमड़के
आगे बढ़ता ही चला जाता है; मरण का
उसको कहाँ है योग; पूर्णता में उसकी
निश्चल समाधि, एक वार मिलती है जो।

गुणधर

ऐसा ही कहा है कुछ मान्य महामन्त्री ने,
मैंने भी सुना है धीर घोष वह उनका।
सुनकर जान पड़ा, कर सकता हूँ मैं
क्या कुछ नहीं, परन्तु ज्यों ही कुछ स्थिर हो
ध्यान दिया मन में, विचार किया स्थिति का;
देखा, और सब है, नहीं है एक आशा ही।
जान पड़ा, जैसे किसी भीषण तिमिर में
सारी सृष्टि डूबी जा रही हो, कहीं इसका
अन्त दिखलाई नहीं देता।

पुष्पदन्त

भ्रम यह है।

नित हम देखते हैं जागकर,—निशि का
घोर घनीभूत अन्धकार जो निखिल को
निगल गया था, वह पुण्य प्रभाकर के
आगमन के ही पूर्व आप तिरोहित है
पावन प्रभात में। अवश्य ऐसे जन भी
जब तब दीख पड़ते हैं, नेत्र जिनके
वैसी उस तेजोदीप्त जागृति की वेला में
क्रूर स्वप्न देखते हुए ही मुँदे रहते।
उनके लिए भी मुझे आशा है कि देखेंगे
जाग गये हैं, वे देखते हैं द्वीप भर में
बाढ़ नवजीवन की आगई है, उसका
अतुल प्रवाह यह हो उठा प्रखर है;
एक ही उमंग-रंग, एक ही ललक की
लाली यह उमड़ पड़ी है जन जन में!
देखकर विस्मित हूँ, कैसे हुआ यह है।
कोई नद जैसे कहीं निर्जन में सोता था;

पुष्पदन्त

तो क्या क्रूर यातुधान की
दासता करेंगे हम ? क्या हमारी बुद्धि भी
कर न सकेगी अस्त्र आविष्कार वैसे ही,
दे सकें उसे जो योग्य उत्तर समर में ?
अपने महान उस यान्त्रिक जयन्त का
स्मरण नहीं क्या तुम्हें, जिसने स्वमति से
भस्मक किरण ऐसी खोज के निकाली थी,—
दूर तक फेंको जहाँ चाहो, वहीं जिससे
और तो क्या, वज्र गल जाय क्षण मात्र में।

गुणधर

अन्त में हुआ क्या ? उस ज्वाला का जनक ही
दग्ध कर बैठा हाथ पैर आप अपने
और अब जीवित भी मृत-सा पड़ा कहीं।

पुष्पदन्त

होके क्षतच्छिन्न स्वयं उसने स्वद्वीप के
शत्रुओं को छिन्नभिन्न करने की युक्ति तो
खोज ही निकाली; और भूल गये तुम भी

14470

मृदुला बहन की पुनीत सेवा-सुश्रूषा,
पाके जिसे जानें फलीभूत व्रण उसने ?
कष्ट भी कृतार्थ उस एक सुकृती का है,
जिसने जगा दी हो सहस्रों में स्वजनता ।

गुणधर

लगता मुझे तो यह, आत्मघात अपने
आयुधों से करते हमीं हैं स्वयं अपना ।
जो हो, वर्तमान में तो शत्रु शस्त्रबल में
श्रेष्ठ हमसे है—

पुष्पदन्त

श्रेष्ठ कौन जन किससे,
बतला सकेगा यह हमको भविष्य ही ।
अलख भविष्य वह, द्वार पर उसके
आज के बड़े से बड़े शैल-शृङ्ग कल ही
दीख पड़ते हैं कंकड़ों के साथ पिसते ।
मुग्ध न हो आज की उँचाई देख उसकी;
उसके निगूढ़ किसी अन्तर में छिपके
कोई क्रूर अग्न्युत्पात, भूमिकम्प पैठा है,

एक क्षण में ही जो उखाड़ उसे जड़ से
लुप्त कर देगा नवजात महार्णव के
तल में अचानक ही।

किन्तु अब जाने दो,
और अवकाश नहीं। देखो, रणभेरी का
सुन पड़ता है महाह्वान वह; उसमें
एक फूँक मेरी भी अपेक्षित है, देने दो।
आ सको तो आना, यहीं बैठ मत रहना,
सबको चुकाना आज जीवन का ऋण है।
मिल न सका मैं आज मृदुला बहन से,
स्नेहाशीष है तथापि प्राप्त मुझे उसका।

(प्रस्थान)

गुणधर

जान पड़ता है, नहीं बैठ रह सकता
बैठ रहना भी यदि चाहूँ किसी कोने में।
फूँक दी गई है तीव्र ज्वाला तीव्र हिंसा की
इस-उस ओर, सामने भी और पीछे भी।
धधक उठी है वह, त्राण कहाँ उससे ?

बैठने की भूमि तक आग बन जायगी।
होगा तब कैसा कुछ ?—तब तो विवश हो
ताप में झुलसते हुए ही हमें झट-से
उठकर भागना पड़ेगा किसी ओर को।
जाकर भले ही गिर जायँ किसी मोरी में,
उठकर भागना है, दौड़ना है तब भी।

मृदुला

(भवन के छज्जे पर से)

आओ कान्त, आओ यहाँ; दृश्य यह देखो तो,
सैन्यदल जा रहा है मुख्य पन्नपथ से।

गुणधर

आया प्रिये, आया अभी।
ध्वनि रणवाद्य की
सुन पड़ती है यह, दूरागत होने से
तीखी भी मनोज्ञ मृदु हो गई है। उर में
सीधी धँस जाती है, नुकीली यह कितनी !
सारे सैनिकों की गति, साहस, परुषता
ढलकर ठोस हुई एक इस स्वर में।

और रणगीत वह,—सौ सौ उच्च कण्ठों में
एक ताल, एक तान, एक लय भरके
निकल रहा है विना रोक, विना बाधा के।
जैसे यह हो नहीं विशेष किसी जन का;
निकल पड़ा है यह सैनिकों के कण्ठों से
ताड़ित वसुन्धरा का दर्प, ओज, दृढ़ता;
पसर रहा है यह, भेदकर नभ को
पार उसके भी चला जायगा, जलधि के
तरल तरङ्गित मुखों में धीर ध्वनि से
ध्वनित, प्रतिध्वनित होगा। चल फिरके
आगे कभी, पीछे कभी, नीचे, फिर ऊँचे भी
वीरता के मद में प्रमत्त नृत्यगति से
काट करता-सा कुछ आता और जाता है
चारों ओर; साथ साथ इसके तुरत ही
नाचकर झूमता-हुलसता हृदय है।
बोध उन शब्दों का यहाँ से नहीं होता है,
मानो उनमें का वह फोक और छिलका
रहता वहीं है, यहाँ आ रहा है छनके

शुद्ध रस मात्र, इसे पान कर मन की
सब अवसाद-श्रान्ति दूर चली जाती है।
निर्विरोध पा रहा हूँ मानो पुष्पदन्त की
लम्बी उन बातों का यथार्थ तत्व,—इसको
ढोने में समर्थ न थे शब्द।
यह मृदुला
दीख यहाँ पड़ती मुंडेर पर छज्जे की
एक हाथ रक्खे हुए आगे झुक स्थिर हो
सम्मुख निहार रही।

मृदुला

आओ प्रिय, शीघ्र ही
आओ, देर तुमने लगा दी यहाँ आने में।
ओट में चला गया है सैन्यदल। थोड़े-से
सैनिक वे अब भी दिखाई वहाँ पड़ते;
वह उस ओर वहाँ! वे भी दृष्टिपथ से
दूर हो रहे हैं अब। दृश्य अहा, कैसा था!
वाद्य बजता था, मन्द्र घोष भरे कण्ठों से
सैन्य जन गाते हुए जा रहे थे, सम में

प्राण के तपस्वी, सर्वत्यागी। इसी तप से
घर घर आज हम निर्भय हैं; रिपु की
क्रूरता से बालक हमारे सुरक्षित हो
हैं निश्चिन्त; पत्नियाँ सुहाग-भरी सुख से
गाती हैं तुम्हारे जयगीत द्वीप भर में।
मंगल हो, मंगल हो!"

गुणधर

मुग्ध हुआ जाता हूँ।
जाना प्रिये, जाना प्रिये, सैनिकों के कण्ठों में
आया था कहाँ से ओज, उत्कटता जिसकी
महक उठी थी दूर दूर लौं दिगन्त में।
ज्ञात न था, सैनिकों के उल्लसित उर में
दृढ़ता यहाँ के इस स्रोत से उमड़के
दुर्निवार हो उठी थी; इसके प्रवाह में
होकर निमग्न कौन निर्बलता निज की
दूर कर देगा नहीं।

पुष्प बिखरे हैं ये।

Singh Library Srinagar.

जान पड़ता है शूर सैनिकों के हित ही
तुमने उछाला इन्हें होगा; नहीं पहुँचे
अपने ठिकाने पर; इनकी सुरभि ही
दौड़ गई होगी वहाँ। बीनकर रख लूँ,
रक्षित रहेंगे ये हमारे स्मृति-कुञ्ज में।
एक क्षण को मैं इन्हें सीस पर धर लूँ;
मैं भी युद्धयात्री हूँ, विदा दो प्रिये, मुझको।

घोषणा

आज युद्ध घोषित है। शत्रुओं की सेना ने
रात्रि काल में ही पूर्व सीमा पर बढ़के
प्रेरित किया है हमें प्रत्युत्तर देने को।
देखे गये ज्यों ही नभोयान कुछ नभ में
और कुछ विस्फोटक छूटे उस ओर से;
त्यों ही निज व्योमवाहिनी ने शत्रुदल का
स्वागत विधान किया शूरोचित विधि से
सत्वर विलम्ब विना।

आज के समर में
नष्ट बहु यान कर डाले गये वैरी के।
हानि निज ओर की हुई है अल्प मात्रा में।
सात सैनिकों ने आज शूरगति पाई है।

रण में कुसुम द्वीप वासियों की ओर से
आत्म-बलिदान यह उनका प्रथम है।
उनके उदार रक्त ने ही इस युद्ध में,—
जिसमें स्वरक्षा के निमित्त हम अपना
सब कुछ होमने को प्रस्तुत हैं, दृढ़ हैं,
अटल प्रतिज्ञाबद्ध,—घोषणा है कर दी,—
शत्रु वह कोई भी न हो क्यों, हम उससे
अन्त तक जूझ सकते हैं, हम जूझेंगे,
हारेंगे कदापि नहीं।

आज सन्ध्या वेला में
अन्तिम क्रियाकलाप इन हुत वीरों का
सैन्य विधि-युक्त होगा शान्त समादर से।
गण्य गरिमा के साथ सूर्य जिस क्षण में
लालिमा की शय्या पर शायित हो सुख से,
त्यों ही द्वीप भर के समस्त पुर-ग्रामों में
मन्दिरों के बीच एक साथ एक स्वर से
बजने लगेंगे शंख, घंटे और झालरें
करके सुघोषित सुगति उन शूरों की।

इसके अनन्तर ही हाट-बाट-घाटों में
स्थान हो जहाँ भी वहीं झुण्ड-झुण्ड मिलके
सब नर-नारी युवा-बाल और बूढ़े भी
द्वीप का पवित्र प्रण फिर दुहराएँगे
कुण्ठाहीन कण्ठों से—

"हमारा यह प्रण है,—

पावन कुसुम द्वीप, यह है हमारा ही।
यह है हमारा, हाँ हमारा, हाँ हमारा ही।
प्राण रहते हों, रहें; जायँ, यदि जाते हों;
तो भी कभी जानें नहीं देंगे किसी वैरी के
हाथों में कदापि इसे। इसके निमित्त ही
तन-मन और धन अर्पित हमारे हैं।"

रणक्षेत्र

पुष्पदन्त

कुसुम द्वीप, हे कुसुम द्वीप, सर्वस्व हमारे,
हम सब हैं सर्वत्र, सर्वथा सदा तुम्हारे !
तुम्हीं हमारी ज्ञानज्योति अन्तःकरणों में;
अर्पित हैं ये प्राण तुम्हारे ही चरणों में।
शत्रुदलित हम तुम्हें कदापि न होने देंगे
किसी लौह के साथ कहीं भी लोहा लेंगे।
अतुल हमारी चमू समरसज्जा से सज्जित,
जाग पड़ी है एक रोषरस में विनिमज्जित।
चञ्चल असि ज्यों महा म्यान में से यह निकली,
दूर दूर तक उजल उठी ऐसी यह बिजली !
हममें कोई नहीं आज है अलग अकेला,
सबमें सबका एक महत्तर-सा यह मेला।

लिये एक ही लक्ष्य, एक जयकेतु उड़ाये,
द्वार तोड़ इस मरणपुरी में हम घुस आये।
सहम गये अरि आज हमारी उत्कट गति से,
नत होंगे कल पूर्ण पराजय की अवनति से।

रात्रि काल, सुनसान, पवन गति ही है चंचल,
स्थिर सब कुछ, ज्यों नहीं यहाँ कोई सैनिकदल।
हैं, वे सब हैं, यथास्थान जागृत—चिरजागृत;
होने दो संकेत, हो उठेंगे झट झंकृत,
नीरव निश्चल वाद्यतन्त्र में भैरव स्वर-से
विस्तृत बिना विलम्ब।

न जानें अरे किधर से
धीमी पड़ती हुई आ रही यह चिल्लाहट।
किस आहत की विषम वेदना की यह छटपट ?
रण में उसका हाथ गया अथवा पद टूटा ?
जीवन भर के लिए सभी जीवनसुख छूटा।
अपने में चिर काल वहन कर मरण निदारुण
जीना होगा इसे।

हृदय यह मेरा सकरुण !
सैनिक हैं हम, दयारहित निष्ठुर व्रतधारी,
वैरी के ही लिए नहीं हैं अत्याचारी।
निज के प्रति भी रख न सकेंगे हम कुछ ममता।
सब बातों में शत्रुजनों की पूरी समता
करनी होगी—नहीं नहीं, भूलूँ कैसे वह
उस सन्ध्या की बात ?
यहाँ को निज सेना सह
चल पड़ने के पूर्व दिवस दिवसान्त समय में
बिदा हेतु मैं गया हुआ था मृदुलालय में।
आ पहुँचे थे यहाँ बहुत पहले से गुणधर,
और प्रथम मैं नहीं पा सका था वह अवसर।
साँझ तिमिर के तरल ओघ के पहले स्तर में
डूबा ही था नगर, उस समय तक घर घर में
भीतर बाहर नित्य असंख्यक विद्युद्दीपक
जग उठते थे, बुझे पड़े थे किन्तु अभी तक
सबके सब। सब ओर शत्रु के महाक्रमण की
आशंका युत विकट वह्निधारा-वर्षण की

सम्भावना दुरन्त प्रतिक्षण थी।
कमरे में
देखा मृदुला बहन किसी निज के गहरे में
पैठी है चुपचाप ध्यान की मूर्ति अनोखी;
मेरे पद-रव या कि अन्य रव से वह चौंकी।
"बहन, विदा दो!"—कहा हँसी ओठों पर लाकर—
"प्रात समय प्रस्थान हमारा है, फिर आकर
कर न सकूँगा यहाँ चरणवन्दन भगिनी का,
कर दो साशीर्वाद रक्त चन्दन का टीका।
मंगलमय वह इस ललाट पर भाग्यदीप-सा
करदे ध्वस्त समस्त तिमिर निज कुसुम द्वीप का
इस सन्ध्या में।"
मौन मग्न मृदुला मेरा स्वर
सुन पाई या नहीं, रहा दुबिधा में क्षण भर।
ज्ञात हुआ ज्यों नहीं अकेला नीरव यह घर,
यह नीरवता व्याप गई है निखिल नगर पर;
कर यह नगरी पार द्वीप में, द्वीपपुंज में,
उसके ऊपर उस असीम नक्षत्रकुंज में

घन घनतम यह तमोराशि-सी है निस्पन्दित;
सारे युग की विपुल वेदना होकर विजड़ित
एक साथ जम गई एक उस क्षण में सहसा।
सह न सका वह भार, हुआ मुझको दुर्वह-सा।
बोल उठा झट—"बहन, विदा लेने मैं आया,
दो निज स्नेहाशीष वराभय कर की छाया।
हिंसक पशु का दर्प-दम्भ विदलित कर आऊँ;
हँस कर निस्संकोच विजयपथ पर मैं जाऊँ
फहराकर जयकेतु"—

न कुछ भी दिया दिखाई,
किस विचार की कौन घटा उस पर थी छाई।
बैठ गया चुपचाप, कहा मृदुला ने "आओ",
क्षीण कण्ठ से। "बहन, यहाँ सुनने को 'जाओ'
आया हूँ मैं"—कहा किसी विध मैंने हँसकर।
"देखो !"—वह उठ खड़ी हुई भय में-सी फँसकर,
बोली—"झानू निकल भोंयरे में से आया,
मैं आई बस और उसी क्षण यह उठ धाया;

क्या मैं इसका करूँ !" कहा मैंने समझाकर—
"नहीं शत्रु के व्योम विमानों का है कुछ डर।
पद्मपुरी तक सहज न वे आने पावेंगे,
निज सेना से रोक लिये तत्क्षण जावेंगे
सीमा पर ही। वहाँ सजग दल-बल है सज्जित
नव शस्त्रों से पूर्णतया। निर्भय प्रमुदितचित
झानू को स्वच्छन्द खेलने दो।"

स्थिर हो तब
बैठ गई वह। कहूँ और क्या इससे मैं अब
सोच न कुछ भी सका।

उठी फिर से ज्यों अकुला,
भीतर जाकर एक पत्र ले आई मृदुला।
"लो, पढ़ लो, मैं इसे नहीं पूरा पढ़ पाई,
लो पढ़ लो, यह; क्रूर पुरुष कैसा अन्यायी—
लो पढ़ लो, यह महा यशोगाथा मानव की,
मानव की या मूर्तिमन्त निर्दय दानव की !
पढ़ते पढ़ते सिहर उठी, चीखी, चिल्लाई;
जानें कितनी दया-घृणा जी में उठ आई।

क्यों मैं पागल नहीं हो गई, सुधि खो जाती,
कुछ सुन पाती नहीं, जागती ही सो जाती।
सुनो सुनो, तुम सुनो मालिनी का वह रोना;
इन श्रवणों का एक एक भीतर का कोना
उसी रुदन के साथ रो रहा"—
किये सतर्कित
अपने दोनों कान, डालकर दृष्टि अलक्षित
इधर उधर वह पत्र ले लिया मैंने उससे।
"कौन मालिनी ?"—प्रश्न कर दिया मैंने उससे—
"क्या वह,—जो है हेम द्वीप की सखी तुम्हारी,
आई थी उस बार ?"
"वही हेमा बेचारी;
पर अब वह है कहाँ ? कभी थी वह इस भू पर,
चली गई है बहुत दूर, ऊपर के ऊपर।
बैठी थी वह एक सान्ध्य वेला में छत पर,
सहसा नभ में व्योमयान घहरे घर्-घर्-घर्।
जब तक विह्वल दृष्टि जाय ऊपर को डाली,
फैल गई सब ओर विकट-उत्कट उजियाली।

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ सौ यानों से।
सुना सभीने वधिर हुए जाते कानों से
उनका,—क्या मैं कहूँ,—घोष-दुर्घोष-भयंकर;
प्रेतों का-सा अट्टहास; शत शत प्रलयङ्कर
उल्काओं का पतन, वज्रपातों का तर्जन
नीरव जिनके निकट,—हुआ ऐसा कटु गर्जन।
कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्द्धांश नगर का,—
युग युग का श्रमसाध्य साधनाफल वह नर का,—
ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय
गिरकर अपनी ध्वंस-चिताओं में थे जलते,
कहीं उजलते, कहीं सुलगते, धुआँ उगलते।
हेमा का अपराध अरे कैसा—तब भी वह
जीवित थी, दब नहीं गई, केवल उसका गृह
एक ओर ढह गया किसी दुर्दान्त धमक से।
जब नगरी में महा विनाशानल धक-धक से
धधक रहे थे, निकल पड़ी हेमा उद्भ्रान्ता
राजमार्ग पर, जहाँ मृत्यु अविराम अशान्ता

पग पग पर थी।

साँझ समय के कुमुदफूल-सी
उसकी कन्या गई हुई थी नदी कूल की
ओर कभी की; साथ सहठ उसका लघु सोदर
उसकी उँगली थाम गया था उत्सुक होकर।
कहाँ रहे वे कहाँ? नहीं लौटे हैं अब तक।
लौटेंगे या नहीं,—अरे लौटेंगे कब तक?
माँ व्याकुल हो खोज रही थी मारी मारी,
पकड़ ली गई मत्त सैनिकों से बेचारी।
मत्त, विजय-मद-मत्त, सहज दुगुना मद पीकर
फैले थे वे सभी ओर, सम्पूर्ण नगर पर
था उनका अधिकार, बड़ी-छोटी टोली में
स्थान स्थान पर महानाश की उस होली में
मना रहे थे विजयपर्व।"

बोला मैं—"धिक् धिक्
कुत्सित घृण्य जघन्य अरे ओ उच्च सांस्कृतिक,
तुम ऐसे हो!"

"सुनो, हुआ हेमा का फिर क्या;
सद्योधिक उस मांसपिण्ड का, उष्ण रुधिर का
लोभी नरपशु उसे जिलाये रहा रात भर
सैन्य शिविर में। पढ़ो, पढ़ सको यदि धीरज धर
तो पढ़ लो यह पत्र।"

लिया मृदुला के कर से
मैंने उसको। निकल गई सत्वर उस घर से,
तब वह। मानों धूम मात्र ऊपर का था यह,
उगलेगा अब पत्र आन्तरिक ज्वाला दुस्सह।
पढ़ा किसी विध उसे, रहा बैठा मैं स्तम्भित
बड़ी देर तक वहाँ। हुआ अन्तर आक्रन्दित
मृदुला का वह मनोदाह अवलोकन करके।
वह हेमा निज मृत्युकूप से पुनः उभरके
धधक उठी थी, तड़प उठी थी इसके तन में,
कभी धूम, अङ्गार, कभी प्रज्वाल ज्वलन में।
कह न सका कुछ बात, स्वयं दोषी-सा बनकर
मैं बैठा रह गया देर तक निज आसन पर।

सहसा मैं उठ खड़ा हुआ, बोला—"जाता हूँ,
क्या मैं तुमसे कहूँ, नहीं कुछ भी पाता हूँ।
नहीं पा सका आज शुभाशीर्वचन तुम्हारा,
ले लूँगा वह और कभी सारा का सारा।
मिली आज के दिवस तुम्हारी यह विह्वलता,
यह पीड़ा, यह मनोदाह, यह व्यथित विकलता;
यही बहुत है, यही आज हो मेरा संबल,—
मेरा पथ-पाथेय।"
तभी से प्रति दिन प्रति पल
वही वेदना बनी हुई है मेरे तन में
जीवन का उत्ताप। यहाँ इस समराङ्गण में
व्यथापूत हो गई निखिल निर्दयता मेरी।
अधमेन्धन के पाप-पङ्क में मैंने हेरी
पुण्यस्पर्शित ज्योतिशिखा यह।
बहन मृदुलिका,
तेरे भीतर जगी हुई वह व्यथा अतुलिता
तेरी निज की न थी, हुई थी तब भी तेरी।
मैं अनुभव कर रहा अरे वह तो थी मेरी,

मेरी, मेरे कुसुमद्वीप की। उत्पीड़क खल
आ पहुँचा है अकस्मात लेकर दल-बादल।
वह सैनिक दुर्वृत्त धरा को कर आतंकित
फैलाये है हाथ, कहीं कर दे न कलंकित
मातृ-रूपिणी बहन-रूपिणी मानवता को।
शान्तिमयी कल्याणमयी उस स्नेहरता को
कितना भय, क्या कष्ट, वेदना उसकी कैसी,
पागलपन की दीप्ति दृगों में उसके वैसी
उस दिन उस क्षण दीख गई बस एक झलक में।
पाया वह जो नहीं पा सका था अब तक मैं।
समझा मैंने, कुसुमद्वीप का मातृहृदय यह,
कितना करुणाकलित दयामय ममतामय यह।
इसी ठौर से नित्य निर्झरित वह रसधारा
सरस हुई है, मधुर हुई है जिसके द्वारा
अपनी प्यारी वसुन्धरा यह; पाकर जिसको
जानें कितनी बार संकटों के दुर्विष को
पचा गई यह; हरी-भरी भीतर बाहर से
मेरी जननीभूमि इसी उर के निर्झर से।

चली गई यह दृष्टि दूर तर जानें कितनी;
जीवन की चिर चलित जहाँ भी थी गति जितनी,
हुई प्रतिफलित एक साथ दृगपथ में आकर
देखा मैंने कुसुम द्वीप की धन्य धरा पर
ये नद नदी तड़ाग तरङ्गित हैं जो अहरह,
ये तृण तरुदल ललित लताएँ मृदुल कुसुमसह,
ये कुरंग बहुरंग, कलित कलकण्ठ विहङ्गम,
शैल शिखिर पुर ग्राम विपिन उपवन जड़ जङ्गम,
शून्य शुष्क निर्जीव कभी के सब हो जाते,
इस धरती का स्तन्य न यदि ये पीने पाते।
धरा गर्भगत मधुर मातृरस वह अखण्ड नित
जिस आकुल जिस विकल भाव से है उद्वेलित
अविच्छिन्न अविराम, उसे प्रत्यक्ष निकटतर
पाया मैंने वहाँ मृदुलिका के आनन पर।
जानें क्या कुछ हुआ, न जानें क्या कुछ पाया,
रोषोदय के पूर्व आर्द्र यह उर हो आया।
वह दुर्बलता,—मुझे नहीं कुछ लज्जा उसकी।
मेरे में जड़ प्रकृति रही जो कठिन पुरुष की,

उसने मानो दुग्ध पिया वह गीलेपन का,—
वही दुग्ध, जो सतत तरल भी विश्व भुवन का
सुदृढ़ जीवनाधार।
                    नवल निर्मलता पाकर
कुसुम द्वीप की निखिल व्यग्र पीड़ा अपनाकर,
निष्ठुर भी मैं आज हृदय में हूँ करुणोज्वल;
कोई हो रिपु, सजग समुद्यत है मेरा बल।

मृदुलालय

मृदुला

बेटा, क्या कहा ?

(दूसरे कक्ष से)

मैं पूछता था वह अपना

काठ का कृपाण अम्ब !

मृदुला

मुझको दिया था क्या ?

देख, उस कोने में टिका है।

(दूसरे कक्ष से)

अरे यह है !

(हाथ में काठ की तलवार लिये हुए सैनिक की वेशभूषा में बालक ज्ञानधर का प्रवेश)

मृदुला

जा रहा कहाँ तू अरे ?

ज्ञानधर

युद्ध कर बैरी से
रण में पिताजी मरने को गये जैसे हैं,
मैं भी जा रहा हूँ उसी भाँति—

(हँसता है)

मृदुला

हाय यह तू
कैसी बात कहता है ! ऐसा नहीं कहते
हाय अरे बेटा !

ज्ञानधर

घबराओ नहीं तुम माँ,
खेल हम खेलते हैं नीचे निज कुंज में।
बैरी बनते हैं हममें से कुछ लड़के
और सब मारकर उनको भगाते हैं।
घायल हुआ मैं कल, मेरे इस हाथ में
देखो यह रक्त,—यह सूख गया अब है।

सेनापति हूँ मैं आज, वैरी को हरा दूँगा,
पाऊँगा कुसुमहार।

मृदुला

निन्दनीय यह है
आपस की मार-पीट।

ज्ञानधर

मार-पीट कैसे माँ ?
युद्ध करते हैं हम। रण में पिताजी भी
लड़ने गये हैं। आज मैं भी रणञ्जय को
ठीक कर दूँगा।

मृदुला

भला उसने किया है क्या ?

ज्ञानधर

वह कहता है—'हार जायगा समर में
अपना कुसुम द्वीप, होंगे जयी वैरी ही।'
यह सच है क्या माँ ?

मृदुला

महान मूर्ख वह है,

जानता नहीं है कुछ।

ज्ञानधर

मूर्ख नहीं, पापी है;
वह कहता है—'मित्र हूँ मैं लौह लोगों का;
वे हैं बड़े, उनमें पराक्रम है, बल है;
शासन करेंगे यहाँ जीतकर जब वे
अपना प्रधानमन्त्री मुझको बनायँगे।
जो जो लड़ते हैं आज जाकर समर में,
दण्ड तब दूँगा उन्हें मैं ही।'

मृदुला

अनुचित है
ऐसे लड़कों का साथ, दूर रह ऐसों से;
खेल घर में ही यहाँ।

ज्ञानधर

जाऊँगा न यदि मैं,
कायर कहाऊँगा; लजाऊँगा न निजको।
सेनापति आज का हुआ मैं, वहीं जाता हूँ।

(दौड़ता हुआ निकल जाता है)

मृदुला

निकल गया है वह। रोके कौन रुकता ?
'हारेगा, कुसुम द्वीप,'—सुनती हूँ क्या अरे !
कैसा कुविचार, घृण्य भावनाएँ कैसी ये
आ बसी हैं ऐसे इन बालकों के मन में ?
उच्च पद चाहते हैं,—ऐसे द्वीपद्रोही भी
प्रकट हुए हैं हममें क्या ? हाय ! तब तो
आशा गई, सारा अवलम्ब गया क्षण में।
भावना रणञ्जय-से शिशु की ही यह क्या ?
और कोई निन्द्य नीच कण्ठ मध्य उसके
बोलता-सा भासित है।

मेरे नाथ, इससे
उस रणभूमि में, जहाँ कि प्रतिपक्षी के
घोर ध्वंसकास्त्र रात दिन हैं गरजते,
कैसी व्यथा, कैसा कष्ट होगा न हा ! तुमको।
द्वीप के समस्त जनवन्दित चरित में
आ गया कलंक कहीं यह सचमुच क्या ?
यह तो विपक्षी की विपुल वह्निवर्षा से

दुस्सह प्रतीत तुम्हें होगा।

(ज्ञानधर का प्रवेश)

लौट आया क्या ?

ज्ञानधर

पूछती थी तुमको ये।

आओ, यहाँ हैं ये माँ।

(ज्ञानधर का प्रस्थान। छिन्नवस्त्र पहने हुए
एक वृद्धा लकड़ी टेकती हुई आती है)

मृदुला

आओ यहाँ माता, यहाँ बैठकर थोड़ा-सा
तनु को विराम दे लो, हाँफ उठी तुम हो।

वृद्धा

अब क्या विराम लूँगी ? भूल गया यम भी;
आती नहीं मौत मुझे। योग्य हैं जो जीने के
वे तो मरते हैं; वही पापी नहीं मरते
मरना जिन्हें था पहले ही।

यहाँ आई हूँ
बेटा तुम्हें कष्ट देने।

मृदुला

कष्ट भला इसमें
कौन-सा है, आओ, यहाँ आओ जब मन हो;
घर है तुम्हारा यह।

वृद्धा

जीती रहो सुख से
बेटी, चिरकाल तुम ! मुझ-से न तुमको
भोगने पड़ें ये भोग।

मृदुला

व्याकुल न हो यों माँ !
माता तुम ऐसी पुण्यवन्ती, पुत्र जिसका
रण में गया है—

वृद्धा

नहीं बेटी, पौत्र वह था;
मेरा अवलम्ब एक मात्र।

मृदुला

धन्य तुम हो;
रण में तुम्हारा पौत्र पातकी अधर्मी से

दुस्सह प्रतीत तुम्हें होगा।

(ज्ञानधर का प्रवेश)

लौट आया क्या ?

ज्ञानधर

पूछती थी तुमको ये।

आओ, यहाँ हैं ये माँ।

(ज्ञानधर का प्रस्थान। छिन्नवस्त्र पहने हुए
एक वृद्धा लकड़ी टेकती हुई आती है)

मृदुला

आओ यहाँ माता, यहाँ बैठकर थोड़ा-सा
तनु को विराम दे लो, हाँफ उठी तुम हो।

वृद्धा

अब क्या विराम लूँगी ? भूल गया यम भी;
आती नहीं मौत मुझे। योग्य हैं जो जीने के
वे तो मरते हैं; वही पापी नहीं मरते
मरना जिन्हें था पहले ही।

यहाँ आई हूँ
बेटा तुम्हें कष्ट देने।

मृदुला

कष्ट भला इसमें
कौन-सा है, आओ, यहाँ आओ जब मन हो;
घर है तुम्हारा यह ।

वृद्धा

जीती रहो सुख से
बेटी, चिरकाल तुम ! मुझ-से न तुमको
भोगने पड़ें ये भोग ।

मृदुला

व्याकुल न हो यों माँ !
माता तुम ऐसी पुण्यवन्ती, पुत्र जिसका
रण में गया है—

वृद्धा

नहीं बेटी, पौत्र वह था;
मेरा अवलम्ब एक मात्र ।

मृदुला

धन्य तुम हो;
रण में तुम्हारा पौत्र पातकी अधर्मी से

दुस्सह प्रतीत तुम्हें होगा।

(ज्ञानधर का प्रवेश)

लौट आया क्या ?

ज्ञानधर

पूछती थीं तुमको ये।

आओ, यहाँ हैं ये माँ।

(ज्ञानधर का प्रस्थान। छिन्नवस्त्र पहने हुए एक वृद्धा लकड़ी टेकती हुई आती है)

मृदुला

आओ यहाँ माता, यहाँ बैठकर थोड़ा-सा
तनु को विराम दे लो, हाँफ उठी तुम हो।

वृद्धा

अब क्या विराम लूँगी ? भूल गया यम भी;
आती नहीं मौत मुझे। योग्य हैं जो जीने के
वे तो मरते हैं; वही पापी नहीं मरते
मरना जिन्हें था पहले ही।

यहाँ आई हूँ
बेटा तुम्हें कष्ट देने।

मृदुला

कष्ट भला इसमें
कौन-सा है, आओ, यहाँ आओ जब मन हो;
घर है तुम्हारा यह ।

वृद्धा

जीती रहो सुख से
बेटी, चिरकाल तुम ! मुझ-से न तुमको
भोगने पड़ें ये भोग ।

मृदुला

व्याकुल न हो यों माँ !
माता तुम ऐसी पुण्यवन्ती, पुत्र जिसका
रण में गया है—

वृद्धा

नहीं बेटी, पौत्र वह था;
मेरा अवलम्ब एक मात्र ।

मृदुला

धन्य तुम हो;
रण में तुम्हारा पौत्र पातकी अधर्मी से

जूझने गया है; कृतकृत्य कुल उसका ।
उसके अपूर्व शौर्य साहस अभय का
पूरा वृत्त मैंने है मँगाया पत्र लिखके ।
शीघ्र मैं बता सकूँगी, क्या क्या कार्य शौर्य के
उसने किये हैं वहाँ ।

वृद्धा

बहुत छिपाया है,
अब क्या छिपाओगी, नहीं है लाभ इसमें ।
सुन मैं चुकी हूँ पहले ही सब । हाय रे,
मेरे भाग्य में था यही ।
बेटा, तुम रोती हो,
रो भी सकती मैं नहीं । अच्छा किया उसने,
वह तो चला गया है, जीती रह अब मैं
यह मुख सबको दिखाती फिरूँ ।—किन्तु मैं
आई और काम से हूँ ।

मृदुला

सेवा करूँ कौन-सी,
आज्ञा दो प्रसन्नता से ।

वृद्धा

कैसे कहूँ वह मैं,
संकुचित हूँ मैं वह छोटी बात कहते।
यह सुनती हूँ,—भूल हो तो क्षमा करना,—
भिक्षा माँगती हो तुम घूमकर पुर में
छोटे-बड़े सबसे।

मृदुला

सुना है ठीक तुमने।
रण में विजय-हेतु दान प्रति जन का
इच्छित है, घूमती उसीके हेतु हम हैं।
निश्चित हुआ है उस सबके प्रदान से
भेंट करें ऐसा एक वायुयान सेना को
सबसे विशाल हो जो।

वृद्धा

बेटी, बड़ी आयुस हो!
जो कुछ था मेरे पास, लाई वह सब हूँ।
यह कुछ रौप्य खण्ड, यह इतने ही थे।
बेटी, यह दान तुम ले लो इस दीना का।

एक कील-काँटा भी तुम्हारे वायुयान में
इससे लगेगा नहीं, तो भी इसे देती हूँ।
लोगी इसको, तो उस मेरे वंशधर की
आत्मा परितृप्त होगी। बेटी, हाय! उसने
मेरे लिए कितना सहा क्या, कहूँ वह क्या ?

(कपड़े की एक गाँठ देती है)

मृदुला

(गद्गद होकर)

धन यह पाकर बताऊँ तुम्हें माता, क्या
प्राप्त किया मैंने कितना क्या ? इस निधि से
ऊँची निधि मैंने किसी मानी किसी दानी से
आज तक पाई नहीं। जानती नहीं हूँ मैं
धन्यवाद कैसे दूँ। तुम्हारी इस भेंट ने
सारी दान राशि पर मंगलप्रदीप-सा
स्थापित किया है घृतपूर्ण, शुचि, जिससे
सारे हेम-हीर समालोकित हैं सहसा
नूतन प्रभा के साथ।

(वृद्धा का प्रस्थान)

कुछ ही प्रथम मैं
व्यथित विशेष हो उठी थी नई शंका से।
भय था कि क्या इस हमारी अवनी में भी
कोई द्वीपद्रोही प्रगटा है, हाय तब तो
व्यर्थ गया सारा तप-त्याग यह इतना।
आश्वस्ति हूँ मैं, अब गर्वित हूँ उर में
मेरे द्वीप, मेरे द्वीप ! तेरे लिए चिन्ता की
बात नहीं कोई कहीं, तेरे साश्रु नेत्रों की
दीप्ति पहुँची है बड़ी दूर, बड़े गहरे।

रणस्थल

(गुणधर और पुष्पदन्त)

पुष्पदन्त

गुणधर,—गुणधर !

गुणधर

मुझे पुकार रहे थे क्या तुम,
क्या कहते हो बन्धु ?

पुष्पदन्त

यहाँ होकर यों गुम-सुम
मन ही मन क्या सोच रहे हो ?

गुणधर

क्या बतलाऊँ,
यहाँ समय ही कहाँ, सोचने जो कुछ पाऊँ ।

बैठा हूँ बस, भूल गया हूँ सब कुछ अपना;
नहीं जानता, सत्य देखता हूँ या सपना।

पुष्पदन्त

सत्य वही है जो प्रतीत हो सपने जैसा,
होगा और यथार्थ कहाँ इस थल के ऐसा ?
कल तुमने जो किया, कार्य वह कितना गुरुतर,
उससे बढ़कर अन्य स्वप्न अद्भुत विस्मयकर
देखा किसने कहाँ। भयंकर थी वह वेला;
दुर्निवार दुस्साध्य शत्रुसेना का रेला
बढ़ता आता दीख रहा था; नभ में ऊपर
यानों की थी घहर, गरज तोपों की भू पर;
धुआँ, विकट वह धुआँ, प्रतिक्षण होकर गाढ़ा,
पिला गया था निखिल वायु को विष का काढ़ा
दुर्गन्धित, दुस्सह्य—

गुणधर

आह क्या याद दिलाई !
उसकी दूषित गन्ध नासिका में उठ आई
फिर से।

पुष्पदन्त

कैसे जूझ रहे थे हम वैसे में
मुझे याद कुछ नहीं पड़ रहा है। ऐसे में
अग्रपंक्ति की प्रमुख शतघ्नी अपना चालक
खोकर बुझ-सी गई, निर्ज्वलन हुई अचानक।
समझा सबने गया मोरचा अब यह निश्चय
पा ली होती वहाँ कहीं प्रतिपक्षी ने जय
तब कह सकता कौन आज के दिन क्या होता;
वहाँ उसी क्षण कुसुम द्वीप कितना क्या खोता
यह अनुमानातीत।

चौंककर नव विस्मय में
देखा सबने इसी समय गति के द्रुतलय में
कोई, ज्यों विक्षिप्त, उपेक्षा कर गोलों की,
बरस रहे अविराम आग के उन ओलों की,
आगे बढ़ता चला जा रहा है।

गुणधर

सचमुच ही
मैं ऐसा विक्षित हो उठा था कि न कुछ ही

देख सका क्या कहाँ हो रहा था उस पथ में;
अपने में मैं न था; किसी दुर्जय के रथ में
मैं ढकेल-सा दिया गया था; सुधि तब आई,
जब मैंने घनघोर शतघ्नी जा उकसाई;
गरज उठी वह !

पुष्पदन्त

गरज उठी उसमें निज सुविजय !
जो पीछे की ओर हट रहे थे, वे निर्भय
लौट पड़े तत्काल तुम्हारे पदचिह्नों पर;
वह ज्वाला जो बुझी-बुझी थी, भर्-भर्-भर्-भर्
एक साथ ही भभक उठी तीखे इन्धन के
ज्वाल-ज्वार में। सब प्रयत्न प्रतिपक्षी गण के
व्यर्थ विफल हो गये। वार वे दाहक तीखे
सहन नहीं कर सके, भागते ही रिपु दीखे
सूना करके खेत।

गुणधर

हुआ सब कुछ मनचीता,
फिर भी भीतर कहीं हृदय में है कुछ रीता;

समझ रहा हूँ, हुआ कृत्य जो पागलपन में
उसमें क्या सन्तोष, तृप्ति उसकी क्या मन में ?
जैसे यह सब व्यर्थ—

पुष्पदन्त

व्यर्थ कहते हो इसको ?
सब सैनिक, सब कुसुम द्वीपवासी जन जिसको
अभिनन्दित कर रहे, मुक्त उछ्वसित हृदय से;
नव आशा का उदय हो उठा है जिस जय से
पागलपन वह ! रहे भले ही वह पागलपन,
माताएँ, पत्नियाँ और बहनें हर्षित मन
आज उसीके गीत गा रही हैं घर-घर में;
आज उसीका नवोल्लास भीतर-बाहर में
फूट पड़ा है एक साथ; पाकर आश्वासन
कुसुम देवियों के प्रफुल्ल, उत्फुल्ल हृदय-मन;
हुआ उन्हें विश्वास, वीर योद्धाजन उनके
कर देंगे उच्छिन्न शत्रु कंटक चुन चुनके।
फिर कैसे वह व्यर्थ ? कृत्य वह न था तुम्हारा;
कुसुम द्वीप का शौर्य, तेज, साहस, बल सारा

ऊपर का दुर्बन्ध तोड़ उस स्रोतोमुख से
उभर पड़ा था वहाँ किसी दुर्दम के सुख से
दुर्निवार, दुबाध।

गुणधर

तुम्हारी यह स्वरधारा
कर देती है मग्न हृदय सारा का सारा।
यह अनन्त आनन्द, नहीं रहता भ्रम-संशय;
होता यही प्रतीत हमारी है जय ही जय।
यही विजय-विश्वास बन्धु, तुम हमें दिलाओ,
भर भरकर बस यही मदिररस हमें पिलाओ।
भूलूँ सब कुछ, कौन कहाँ हूँ, क्या है सम्मुख।
दुष्कर कुछ भी नहीं, नहीं दुस्सह कोई दुख,—
ध्यान रहे बस एक मात्र यह इतना निश्चित
अपनी मृदुला कुसुमदेवियाँ हैं संरक्षित
घर-घर में भयरहित। उन्हींके अतुल अंकगत
अपना अखिल भविष्य सुपोषित है नित अविरत।

मृदुलालय

मृदुला

पाया अभी मैंने यह पत्र पुष्पदन्त का—
"बहन,
परिस्थिति यहाँ की लिखूँ कैसे मैं ?
लिख सकता हूँ नहीं,—लिखने का किसको
प्राप्त अवकाश यहाँ ? आज तीन दिन से
खा सके न पी सके, न नींद एक क्षण की
लेने हम लोग पाये। कठिन प्रसंग है।
अविरत आक्रमण हो रहे हैं अरि के।
शीघ्रता से प्रस्तुत कराके उस यान को
भेजो यहाँ। और एक बात, गोप्य वह है।
फूटने न पावे कहीं। गुप्तचर वैरी के

फैल रहे चारों ओर, आज निज-पर की
सरल नहीं है जाँच। जाकर जयन्त को
प्रेरित करो स्वयं,—तुम्हारे उस यान में
लग्न करदें वे निज भस्मक-किरण को।
कार्य यह एक तुम्हीं ले सकोगी उनसे।
यदि यह हो गया तो आशा शेष अब भी।"

कुछ भी लिखा नहीं क्यों स्वामी के विषय में ?
दो ही शब्द और लिख देते, बस उससे,
एक पंक्ति से ही, यहाँ पा न लेती कितना।
गिरि के कमण्डलु से प्रस्रवित दिव की
एक जलपंक्ति वह दिव्य जलधारा में
फैल कर और कुछ बाहर का भरके
मेरी मनोभूमि के निचाट निम्न तल की
दूर-व्यापी तृष्णा हर लेती एक क्षण में।
गिरि वह प्रस्तर का, हाय उसे किसकी
व्यापती है पीड़ा वहाँ !

हाय अरे कैसी मैं

स्वार्थिनी हूँ ! सोचती नहीं हूँ, स्थिति कैसी है ।
कठिन प्रसंग वहाँ, एक एक पल में
रौद्रा रणरंगिणी स्वरूप है बदलती ।
कुछ लिख देते वही, इतना समय भी
स्वामी को नहीं क्या वहाँ ? यह रणकाल रे
कितना क्या खा चुका है, देश-काल-पात्र में
बचने किसीको भी न देगा लौहदन्तों से ?

कम्पित हूँ, संशय से रोम रोम तनु के—
कील-काँटे होकर चुभे हैं अंग अंग में ।
क्या करूँ, करूँ क्या अरे, क्या करूँ री, आँखों को
मूँद मूँद लेती हूँ, तथापि नहीं मुँदती;
देखती हैं, देखती ही देखती हैं फिर से
बार बार काले घन अन्धकार-पट में
विकट विकट रूप, कल्पित जो शंका से
जानें किन कैसे गाढ़ रंगों में ।
नगर में
कैसी यह शान्ति, यह शान्ति अरे कैसी है !

सो गये क्या नारी-नर एक साथ सब हैं ?
मानव रे धन्य अरे, धन्य अरे ऐसे में
सो सकता तू ही बस एक !
यह क्या क्या मैं
सोचती हूँ बैठी यहाँ ! यात्रा पर मुझको
जाना है जयन्त के निमित्त। वह मानेंगे ?
उनका विचार था कि वह निज शोध को
आप समाधिस्थ कर देंगे विस्मरण के
सिन्धु के अतल मध्य, उस अभिशप्ता की
आँच तक पा सके न कोई कहीं जिसमें।
मैंने भी कहा था,—यह वह्नि है नरक की,
जागेगी जहाँ वहीं नरकदृश्य लावेगी।
अब वह बात नहीं, अब तो नरक ही
नरक दिखाई पड़ता है द्वीप भर में।
आज नरकानल अभीष्ट महौषध है।
मानेंगे नहीं क्यों वह, निश्चय ही मानेंगे;
मेरा अनुरोध यह मेरे दग्ध द्वीप का।

सुश्रूषालय

गुणधर

कैसा वह मद, जिसे शत्रु सैनिक पी पीकर
ऐसे सुध-बुध-भूल हो उठे हैं धरती पर ?
आहत, मरणासन्न, विकल था तन-मन उसका;
ज्ञात हुआ यह मुझे,—धरा पर जीवन उसका
पोत-पतित हो कालसिन्धु की काल लहर के
करतल पर है;—महाकाल निज फाटक पर से
खींच रहा है उसे; निगलकर भीतर झट-से
वे द्वारार्गल अभी रुद्ध होने को खट-से
चल-चंचल हो उठे ! दूर से मैंने देखा,
उस सैनिक में कहाँ शत्रुता की क्या लेखा ?
नहीं कहीं कुछ भेद, एक ही इन्द्रधनुष में
आश्रित वे बहु वर्ण, वर्ण ये पुरुष पुरुष में

बाहर के आभास, एकता ही अन्तर्गत।
यह सैनिक जो कुसुमभूमि का उर क्षत-विक्षत
करके अविरत अनलवृष्टि कर रहा अभी था
एक निमिष के पूर्व, वही इस इसी मही का
अपना होकर पड़ा हुआ है इसके ऊपर।
इसी भूमि का श्वास अकुंचित लहर लहर कर
पिला रहा है उसे प्राणरस अन्त समय में।
अब यह किसका शत्रु,—पड़ गया मैं संशय में।
अविकृत मानव मात्र, सभीका सहज स-गोत्री,
हम सब-सा ही मरण यज्ञ में एक स-होत्री।
चीख उठा वह, समर क्षेत्र के कोलाहल में
वह रव हुआ विलीन, बिन्दु ज्यों सागर जल में
मैं समीप था, चला गया खिंचता-सा उस तक,
छटपट करता हुआ अचल वह हुआ अचानक।
तनु उसका क्षत-छिन्न, स्रवित निज शोणित-जल से
उसी धरा को सींच रहा था, जिसे अनल से
हरितांचल में जिधर-तिधर उसने था दाहा;
हिलडुल वह हतचेत दशा में पुनः कराहा।

वैर-व्याल निज फणा उठाकर, मनो विवर में,
मेरे में, फुफकार उठा; सहसा पल भर में
व्याप्त होगया विषम द्वेष विष भीतर-बाहर।
वह सैनिक कुछ बोल उठा फिर से रह रह कर।
थे उसके क्या शब्द, न उनको मैंने जाना,
ग्रहण किये थे किसी भिन्न भाषा का बाना।
उनका वाह्य स्वरूप अपरिचित ही हो मेरा,
अन्तर्गत जो रहा, सुपरिचित था बहुतेरा।
वह पीड़ा वे भरे हुए थे, जिसकी बोली
महाकाल ने मुक्त अधरपुट पर है खोली
सब देशों में जीव मात्र को अर्पित करके;
वह बोली सब भेद भुलाकर अपने-पर के
उर-उर में अविलम्ब पहुँच जाती है ऐसे,
करके निद्रा भङ्ग अनागत-सी स्मृति जैसे
हो निज शय्यासीन।

हृदय मेरा भर आया,
मैंने उसके निकट भरा जलपात्र बढ़ाया।

मैं विस्मित रह गया देख उस मुख की भङ्गी;
जो पीड़ा, जो कष्ट हुए थे उसके अङ्गी,
सकल तिरोहित हुए अतर्कित रोषोदय में।
जैसे कहीं सुनील विकम्पित सलिलाशय में
सहसालोड़न हुआ किसी क्रोधान्ध मकर का,
उठ आया सब पंक कहीं के नीचे स्तर का।
सँभल न पाया, हुआ मुझे इतना ही भासित,
उसने ऊँचा किया एक कर अपना कम्पित
और एक विस्फोट सुनाई दिया; उसी क्षण
मैं पृथिवी पर पतित हुआ होकर हतचेतन।

जब कुछ क्षण के बाद खुले भारी दृग मेरे,
उस मृत का तनु क्रुद्ध कुसुम सैनिक थे घेरे।
कोई उसको खींच रहा था कुटिल कचों से,
कोई उसको बेध रहा था निज किरचों से।
कोई कोई पदाघात करते थे बढ़कर;
पीछे के कुछ अन्य किसीका स्कन्ध पकड़कर

पंजों के बल उठे हुए बकते थे कितना;
उस मृत में अवशिष्ट रह गया था जो जितना
ले लेने के लिए खुले मुख, दृग, श्रवणों से
वे सब थे उद्ग्रीव,—बुभुक्षित वन्यजनों-से
सहसा प्रमदोल्लसित।

यहाँ सुश्रूषालय में
आकर जैसे पहुँच गया हूँ निजी निलय में।
सबके सब स्नेहार्द्र कर रहे सेवा मेरी।
चतुर चिकित्सक लगा रहे हैं फिर-फिर फेरी।

मैं आहत, असमर्थ, स्वयं अपने घावों को
देख नहीं पा रहा; छिपे उर के भावों को
जानूँगा किस भाँति ? हुए वे भी मर्माहत;
जो उनका उपचार करे, ऐसा पारंगत
कहाँ मिलेगा मुझे ?

सोचता हूँ रह रहकर
उस सैनिक की बात, क्रूरता उसकी खरतर।

फिर फिर से सब वही याद आ आ जाता है,
दृग-पथ में सब ओर कुहासा छा जाता है।
इस धूमिल में, अविश्वास के घनावरण में,
जहाँ नयन निष्फलित,—दूर से किसी श्रवण में
सुनता हूँ मैं उसी निहत सैनिक के तन का
पीड़ामय चीत्कार। यहीं पर आश्वासन का
क्षीण रज्जु-आधार मुझे देता है अनुभव,
वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
ऐसा मानव, लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल। आत्मविस्मृति ने छाकर
उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उसपर
रोष करूँ या दया?

और इन कुसुम जनों का
वह प्रमत्त उच्चार घृणित उन दुर्वचनों का?
इतना ही बस नहीं। निदारुण लज्जा लगती,
अपने ही के बीच जहाँ वह स्मृति है जगती।

टूट पड़े ज्यों गिद्ध, निहत गतजन के ऊपर
वे सब के सब एक साथ हाहा-हूहू कर।
करके उसका अङ्ग-भङ्ग सबने की क्रीड़ा,
छिन्नांशों की गेंद बनाकर—
गहरी पीड़ा
इन घावों में उभर पड़ी है। हूँ मैं स्तम्भित,
यह रण नर को निपट निन्द्य पशु बिना विलम्बित
करता है किस भाँति ? कौन वह कुहुक-मन्त्र-बल ?
रक्षित है हा ! इन्हीं सैनिकों से अवनीतल !
ये उसके अधिराज !—प्रवीरोचित मर्यादा
जिन्हें नहीं कुछ ज्ञात, निठुरता ही निर्बाधा
है जिनका मुख्यास्त्र।
हायरी मेरी जगती,
इतनी सुन्दर, तदपि घृणित-सी तू क्यों लगती ?
तेरे ही सुविचारशील तेरे अंचल से
मुक्ति-प्राप्ति हित बने रहे हैं व्यग्र-विकल-से।
तेरे में कुछ नहीं तेज-बल ? अयि कल्याणी,
तू क्यों ऐसी दीन, हुई क्यों कुण्ठित वाणी ?

क्या कुछ तुझमें नहीं, टूटकर, रहकर भूखी,
सब कुछ सहती हुई नहीं अब तक तू सूखी।

फिर वह सैनिक !
वही, वही, यह वही अचानक
आ पहुँचा है यहाँ,—वही पीड़ा मर्मान्तक
सुन पड़ती है मुझे; मृतक होकर, गत होकर
अविनाशी यह हुई; वाह्य जो था सब खोकर
बिखर गई है दूर दिशाओं तक, दिगन्त में;
यह अमूल भी अमर वायुवल्ली अनन्त में
फैल गई है निरवलम्ब।

ओ सैनिक भाई,
जन्मा था तू कहाँ, कहाँ की तूने पाई
पहली प्राणद पवन ? वहाँ पर भी ऐसे ही
खिलते होंगे कुसुम, इसी थल के जैसे ही
होंगे मुखरित सरित-तीर, सुन्दर छायावन,
दिन में गलित सुवर्ण, रात में रजत विकीरण।

पता नहीं, वह कौन ग्राम किस ठौर कहाँ का,
कोई एक कुटीर प्रतीक्षास्तब्ध जहाँ का
मुखर उठा उस दिवस; दिवस के कोलाहल में,
या मधुनिशि के मधुर अचंचल मृदुलांचल में,
ली जब तूने नई साँस इस नये भुवन की,
एक साथ तब तनय, तात, भ्राता, निज जन की
नवता तुझमें जाग उठी। तू लोकान्तर का
उस घर का बन गया,—कहाँ थी तुझमें परता ?
वहाँ रुदन भी हुआ हासमय सरस सुमंगल,
शय्या पर उस पुत्रवती का विकल नयनजल
बना अमल आनन्द। अशुचिता भी थी शुचिता।
पा तुझमें प्रत्यक्ष मुक्तिसुख माता मुदिता
तेरे स्नेहाधीन बँधी वांच्छित बन्धन में;
तेरे में निज विगत काल पाकर बचपन में
लौट पड़ी वह स्वयं।

अपरिचित हूँ मैं भाई,
किनकी पहली सुभग सुहृदता तूने पाई।

था तेरा क्या नाम, धाम, किनमें तू फूला,
क्या कुछ ऐसा मिला तुझे, जिसमें तू भूला
अपना आपा आप ?
सोचता हूँ रह रहकर,
कोई तेरी पुण्य प्रेयसी रही कहीं पर।
बैठा था तू किसी कुञ्जवन में, झुरमुट में
श्यामा सन्ध्या नील पात्र रक्ताधर पुट में
लगा रही थी, बिखर रहे थे उसके कुन्तल,
धीरे धीरे शान्त सुरभि में उसका अञ्चल
फहर रहा था वहाँ; वहाँ तू उन्मन उन्मन
निज में डूबा हुआ, कहीं अपना अपनापन
खो बैठा था।
उठी दृष्टि सहसा जो तेरी,
तू भौंचक रह गया, हृदय की घनी अँधेरी
कहाँ कभी की चली गई थी। पूर्व गगन में,
पूर्व गगन में या कि वहाँ तक विस्तृत मन में,
शैलशिखर पर कलावती शशिलेखा अरुणा
बिहँस उठी तत्काल, प्रथम ही पूरी तरुणा !

तू हो उठा उदार अतुल अनुपम उस पल में,
अपनी उस दिवलोकवासिनी को नभ-थल में
तूने अपना लिया, होगई मन की पूरी,
तू ऊँचा उठ गया; कहाँ की कैसी दूरी ?
तेरे उर के स्वच्छ-सरोवर-मञ्जु-मुकुर में
चमक पड़ी, वह उतर आ बसी अन्त:पुर में
तेरी ही एकान्त ।
हुआ फिर क्या कुछ कैसा ?
बिखर गया वह स्वप्न, हो गया सहसा ऐसा ।
जीवन पथ मुड़ गया किसी संकीर्ण गली में;—
रुग्ण जहाँ था पवन; नीर निज उरस्थली में
लिये हुए था विपुल पंक-त्रण, सकृमि; गगनतल
वन्दी था लघु कक्ष मध्य; केवल उदरानल
बुझा-बुझा भी ज्वलनशील था तीखा-तीखा;
तब भी तू कुछ काल तरुण पङ्कज-सा दीखा
सुरभि-समाकुल फुल्ल ।
कहीं के कर्मालय में
जा पहुँचा तू स्फूर्ति समन्वित भाग्योदय में ।

बहुतों से वह बहुत बड़ी, होकर भी छोटी,
स्वेद-सनी बन गई सलोनी तेरी रोटी !

उस दिन तू ने सुना, गगनचुम्बित भवनों से
उठी एक ध्वनि, उच्च लोक के विबुध जनों से
उच्चारित-सी,—"स्थान अपेक्षित है हाँ, हमको !"
तू बोला—"हाँ, स्थान अपेक्षित गुरु-लघुतम को !"
फिर से तू ने सुना, स्वर्ण के झन-झन-झन में
गूँज गई यह गिरा—"भयंकर निर्धनपन में
हम निरन्न हैं !"-"हम निरन्न हैं !"-तू भी बोला ।
झंझाघूर्णित उग्र तरंगों में उठ डोला
तेरा उर विक्षुब्ध ।
चढ़ा कब गगनस्थल पर ?
अन्तर्ज्वाला लुप्त गिरा जैसी करतल पर
हिंसा और अपार क्रूरता के सङ्गम में
प्रस्थापित थी । क्रोध-वह्नि के वमनोद्गम में
समझा तू ने सफल स्वजीवन ! यन्त्रारोहित
तू ऊपर उड़ चला; फिरा ज्यों तन्त्र-विमोहित ।

नीचे की यह धरा, यहाँ नीचे का मानव
भूल गया सब तुझे। कौन वह बल अनलोद्भव
संचालित था किये तुझे गहरी माया में
करके जड़ यन्त्रांश ? आत्मविस्मृत काया में
मृत था तेरा मनुज।
नहीं, वह था घन-तन्द्रित।
जब वह तेरा यन्त्र अचानक ही अनियन्त्रित
भस्मासुर-सा स्वयं भभक बैठा, तब झट-से
आया तुझको याद धराञ्चल; उस नभ-तट से
लेकर एक उछाल आगया तत्क्षण नीचे।
मूर्च्छित होकर पड़ा हुआ था तू दृग मीचे।
मैंने देखा,—उसी दशा में तेरा मानव
जाग उठा वह वहाँ; करुण भी तीक्ष्ण विकट रव
मिथ्यावर्जन-मध्य सत्य-सम फूटा सहसा।
निशि के घन-तम-घटा-छिद्र में होकर वह क्या
निकल पड़ा था एक ज्योतिकण ?
मैंने वह क्षण
करके पीड़ा-दान किया है तनु पर धारण

विपुल व्रणों के बीच, किसी अनमिट लेखा में।
वह स्याही वह रक्तनीर रेखा-रेखा में
रहने देगी नहीं, रहेंगे तब भी अक्षर।
सुन न भले ही सकूँ कहीं, वे नित्य निरन्तर
किया करेंगे वही घोष उद्घोषित।
भाई,
चला गया तू, वहाँ किसी जन को क्या आई
तेरी सुध क्षण काल? किसी जन ने क्या सोचा,—
किस कारण हो गया अचानक ओछा-ओछा
मेरा आतुर हृदय? वहाँ के मरण-घाट पर
कोई किसका कौन, निरा संख्यात्मक बनकर
तेरा स्मृति-शव पहुँच गया होगा इस क्षण तक;
आये-आये, गये-गये होंगे शतसंख्यक,
उनमें तू भी 'एक'।
दृष्टि धुँधली पड़ जाती,
उस दूरी की झलक मात्र ही आने पाती।
जाग्रत है इस अर्द्ध यामिनी में वह कोई;
वृद्धा है वह, नहीं आज अब तक जो सोई।

कल का वह दिन, पत्र पायगी जब वह तेरा,
सोच रही है—"गया, गया, यह गया अँधेरा,—
अब क्या सोऊँ ?-रहे कुशलयुत वह हे त्राता !"
गद्गद होकर नमित हुई ऊपर को माता
निर्निमेष, निर्वाक।
देखता हूँ मैं आगे,
कल के दिन रवि-रश्मि गगन में जागे-जागे
जगा रहे हैं दूर कहीं का छोटा आँगन;
वहाँ निराले कक्ष बीच उस तरुणी का मन
उछल रहा, वह पसर गया चहुँ ओर पुलक में;
प्रियतम का प्रिय पत्र लिये वह नई हुलक में
भूली वहु व्यवधान-महोदधि द्वीपान्तर के;
फिर फिर पढ़ वह पत्र, उसे मृदु मधुराधर के
शत-शत चुम्बन दान कर रही है स्वेदार्पित;
प्रिय दो दिन के लिए आ रहा है अविलम्बित;—
दूर नहीं अब मिलनतीर्थ वह !
उसकी दूरी
दुस्तर तर दुर्लंघ्य, हो सकेगी क्या पूरी

इस जीवन में ? हाय अरे, तेरा खण्डित शव
इस धरणी का भाग हो गया है चिर नीरव !

तू है मेरी धन्यभूमि, कह तो, उर-थल में
रखती तू भी घृणा ? उसी विद्वेषानल में,
हिंसानल में, दग्ध हुई है आत्मा तेरी ?
सीस हिला तू एक बार ओ मेरी, मेरी,
तेरी भी मैं सुनूँ ।
आश्वसित, समाश्वसित हूँ,
तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूँ ।
देख रहा हूँ, जहाँ क्रोध-कुत्सित पाशव का
रूप विकट बीभत्स, जहाँ मूर्च्छित मानव का
शतशः खण्डीकरण दलन-विदलन कर करके;
उसी ठौर पर, उसी ठिकाने के थल पर से
फूट पड़े हैं नये नये अंकुर वे शोभन ।
उस सैनिक का रुधिर वहाँ वह हृदयविमोहन
नवजीवन के अरुणराग में परिवर्तित है ।
जिसे घृणा की गई, उसीके लिए नमित है

धरणी की वह सुमन-मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
इधर-उधर सब ओर।

हो उठा यहीं निकट तर
संकट का संकेत! श्रवण में महा विकट तर
आकर गड़ने लगा गगनयानों का गर्जन;
हुआ, हुआ, यह हुआ यहीं वज्रानल वर्षण!

शिविर

पुष्पदन्त

गुणधर में यह हुआ कहाँ का क्या परिवर्तन ?
बुझा-बुझा हो गया। यही था, जिसका दर्शन
ले आता था झटित ज्वार संग्राम-सरित में।
द्वीप आज जब पड़ा हुआ है दुष्ट दुरित में,
बन बैठा यह तभी तामसिक किसी कुहू का
कुत्सित सायंकाल;—अचानक ही यह भूखा
करने को कुछ ग्रास बढ़ा जाता है चुपके,
चिन्तन के गम्भीर तिमिर में भीतर लुकके।
अच्छा था, उस दिवस वहाँ उस सैनिक द्वारा
इसके इस सौजन्य सदाशय की यह धारा
छिन्न-भिन्न शतछिद्र भाण्ड में से उड़ जाती
बाष्प तुल्य अस्पर्श्य; न फिर से बहने पाती,

उसी दया के सदृश निरी निर्बोध, निरर्थक,
रिपु के पापाचार कृत्य में स्वयं समर्थक।
वह सैनिक यदि सफल वहाँ उस दिन हो जाता,
इसमें से यह आत्मशत्रु क्यों उगने पाता ?
असफल भी वह सफल; मरणपुर से यह गुणधर
नये जन्म में जन्मजात तरुणाई लेकर
उसके स्वजन-स्वरूप पुनर्जीवित है। धिक् धिक्,
इस जीवन से कौन लाभ,—यह है मरणाधिक।

पतन !—कहाँ का पतन ? आज के दिन हम जैसे
ऊँचेपन में उठे हुए हैं, ऊँचे वैसे
दीख पड़े कब कहाँ ? आज हम यह कह सकते,—
मर सकते हैं, सुनो सुनो, हम हँसते हँसते !
युग युग का क्रम एक न जानें कितने आते;
आते हैं फिर मरण-पदों से रुँद रुँद जाते।
जीवन सबका,—मरणदूत की शान्त प्रतीक्षा;
लिये सभी के सभी एक ही शिक्षा-दीक्षा !

कहीं चढ़ाव-उतार नहीं, सब एकस्वर ज्यों,
सब आये, सब गये जन्म से ही नश्वर ज्यों।
हम हैं, केवल हमीं, हमींने यह दिन देखा,
जिसने उठकर रक्ततिलक की निर्मल लेखा
युग युग के निश्चिह्न भाल पर मुद्रित कर दी।
हम हैं, केवल हमीं, हमींने साग्रह भर दी
भावी की चिर कालमूर्त्ति में विस्मय-मुद्रा।
वह भावी उद्ग्रीव खड़ी है तजकर निद्रा
मन्त्रमुग्ध अनिमेष।

असाधारण ही सहसा
पदाघात से द्वार भग्न करके दुस्सह-सा
भीतर यह आ घुसा हमारे कुसुमालय में।
न तो संकुचित हुए, न जड़-विजड़ित हम भय में।
बैठे भी सन्नद्ध-सजग, उठ खड़े हुए हम।
समझ सका तब कौन, उसी क्षण बड़े हुए हम
किस ऊँचे, किस महामहिम के ऊँचेपन से?
युग युग के सम्पूर्ण निम्नता के बन्धन से

एक साथ हम छूट गये उस एक निमिष में,
पाई हमने सुधा हलाहल-से इस विष में।
लघु-गुरु, निर्बल-सबल, न्यून का और अधिक का
कोई सोच विचार, असज्जित का सज्जित का
कर न सका आक्रान्त। एक समता के तल पर
दिखलाई हम पड़े शत्रु के शत्रु प्रबलतर
अप्रतिहत दुर्जेय।

द्वीप का नव परिदर्शन
कर आया हूँ अभी; देख आया हूँ विघटन
जो कुछ जितना हुआ। योजनों तक बहु विस्तृत
बड़े बड़े कृषिक्षेत्र पड़े थे शत्रु-पदांकित
उन्मूलित-उच्छिन्न। ग्राम पूरे के पूरे
ऊँचे ऊँचे धुस्स बने थे अपने घूरे।
कोसों तक सुनसान, नहीं कोई जन-मानव,
बीच बीच में गीध-घिरे मनुजाङ्ग, गलितशव।
जिस धरती के साथ जन्म से था चिर परिचित,
जिसका सब कुछ रहा नित्य निर्वाद असंशित,

देखा मैंने उसे, नहीं जैसे पहचाना;
देख रहा हूँ किसे, नहीं कुछ जैसे जाना।
मधुतोया का मधुर घाट था उखड़ा-उखड़ा,
भरा-भरा था जहाँ, वहाँ था उजड़ा-उजड़ा।
देखा मैंने दृष्टि डाल सम्मुख मधुनगरी,
खण्ड-खण्ड हो बगर गई हो जैसे गगरी।
पथ थे हुए पहाड़, ध्वस्त गृह-ढूहों वाले,
जली देह में उभर पड़े दीखे वे छाले।
बहु विस्फोटक-खनित खड्ड, वे कितने नीचे;
उन घावों ने नयन अचानक मेरे खींचे।
तटवर्त्ती उस जटिल वृद्ध वट की छाया में
बैठ गया चुपचाप। न जानें किस माया में
उलझ गया क्षणकाल। याद आई बचपन की,
उसी ठौर पर किये गये क्रीड़ा-कूजन की।
याद आ गई मुझे पिता की स्वपितामह की;
उनका भी शिशुकाल लिये था इसी जगह की
छाया का आनन्द-समालिङ्गन तनु भर में।
सँभला-सा तब बैठ गया सीधा तन कर मैं।

मेरे में कुछ नये गर्वकण आकर उभरे,—
कितने पूर्वज स्वजन यहाँ इस तट पर उतरे।
आकर वे सब देख गये अपनी अवनी की
कुसुममयी कमनीय माधुरी नीकी नीकी।
यह भैरवी स्वरूप उसीका भीषण-सुन्दर
मिला उन्हें कब यहाँ देखने को विस्मयकर ?
देख रहा हूँ,—देख रहे हैं उसको हम सब।
यह वह गौरव, जहाँ मर्त्य में अमर सुदुर्लभ
हो उठता है दीप्त।—याद ऐसा भट आया,
छिन्न-शीर्ष जो कटे हुए धड़ का मनभाया
देख रहा हो समर-पराक्रम खुले नयन से।
आ उतरा ज्यों वहाँ मरण के वातायन से
लोचन का फल-लाभ।

धन्य तू धरणि हमारी,
हुई अर्द्ध उच्छिन्न, नहीं तब भी तू हारी।
हारेगी तू नहीं, अन्त है तेरी जय में;
विस्मित है सब विश्व अटल तेरे निश्चय में।

विस्मय मुझको स्वयं,—कहाँ से यह बल आया ?
अब तक केवल मातृरूप की कोमल छाया
हम सब पाते रहे विमल तेरे अंचल में।
तू अब तक बस भरे हुए निज वक्षस्थल में
पान कराती रही हमें पावन पय-धारा।
अब यह हमने नया रूप ही यहाँ निहारा।
माता, तेरा नया रूप !—गम्भीर वदन है;
मधुर हास का नहीं वहाँ वह आलेपन है;
दृढ़ सुस्थिर दृग-ज्योति, भौंह के कालेपन में
उन्मज्जित हो चमक उठी है अनुरंजन में
मुखमण्डल पर, आस-पास ऊपर-नीचे भी।
रही मानवी, आज दीख पड़ती है देवी।
वह देखो, वह सोह रही है काली काली
तेरे कर में किसी हलाहल की-सी प्याली।
तेरी बिखरी लटें, छिन्न यह तेरी साड़ी
लहर लहर कर फहर फहर उड़ रही पिछाड़ी।
आगे तू उन्नमित, स्वयं सन्तति के मुख में
तिक्तौषध यह ढाल रही है। सुख या दुख में

किसमें तू तल्लीन, बता तू मेरी माता ?
भीतर तेरे बुझा-बुझा-सा है कुछ जाता
कह तू, कह तू ?

घूम पड़ा ज्यों सोया-खोया;
देखा, सम्मुख बही जा रही थी मधुतोया
लहरों में उच्चलित। किनारे इधर-उधर के
सोये-से थे मंजु थपकियाँ पाकर कर से।
देखा, परली पार वही था गहन कुसुमबन;
उसके ऊँचे शाल, दूर तक निर्जन निर्जन;
वह नीलाचल शैलमालिनी, ज्यों संचरिता,
ऊँची-नीची ऊर्मिमयी थी नीलमसरिता;
वहाँ गड़ाये रहा देर तक दृग फिर निज मैं
उतरा था आकाश दूर पर जहाँ क्षितिज में।
वही श्यामला धरा, वही उन्मुक्त दिगन्तर
देखा मैंने, नहीं कहीं पाया कुछ अन्तर।
जाना फिर से बाल-चपल मारुत के झोंके
एकीकृत कर भिन्न गन्ध उन वनकुसुमों के

ले आते हैं, बार बार मुड़ मुड़कर पीछे
कुछ विलोकते हुए वक्रगति ऊपर-नीचे
ठिठके-ठिठके अभी और फिर अभी त्वरित-से
निकल रहे हैं, मुझे स्पर्श कर हर्ष भरित-से
पहले की ही भाँति।
ध्यान खिंच गया अचानक,—
कुछ ऐसा है, जिसे क्रूर से क्रूर विघातक
छू तक पाता नहीं; तरंगित जिसकी धारा
बहती है चिरकाल; किसीकी कोई कारा
दे सकती है नहीं जिसे निज बेड़ी-बन्धन।
मुझे दे गया एक परस निज वही चिरन्तन
एक निमिष के बीच।

हमारा अतुल पराक्रम
अब भी है जीवन्त। कहीं का कोई निर्मम
कर सकता है नहीं दलित, पद-पीड़ित उसको।
जाग्रत रखते हुए नित्य निज प्राण-पुरुष को
जूझेंगे हम !

नहीं जूझता है रिपु से ही;
फिसल फिसल जो रहे स्वकीयों में, उनसे भी
करना है सङ्घर्ष। हो न क्यों सम्मुख गुणधर
देना होगा दण्ड उसे भी निष्ठुर होकर।
तो हाँ, ऊँची उठे और वह निर्मम ज्वाला,
पी लेना है कठिन हलाहल का वह प्याला।

ध्वंस

[मृदुलालय का अग्र भाग आग्नेय वृष्टि से बुरी तरह आक्रान्त हो गया है । दीवारें पृथ्वी पर गिर कर, पछाड़ खाकर, सब की सब ईंट और चूने के ढूहों में प्रधान पथ तक फैली हैं;—विपर्यस्त, विध्वस्त । सामने—से ऊपर का एक कक्ष अर्द्धांश भग्न इस भाँति दीख पड़ता है, जैसे काल-व्याघ्र ने उसका उतना मांस नखों से लोंच लिया हो। कर्मकार जन तत्परता के साथ सफाई करने में संलग्न ।]

(कर्म्मकारों के भिन्न भिन्न स्वर)

कैसी यह ऊमस है ! एक क्षण रुकके

अब कुछ सुस्ता लें।

× × ×

यहाँ का ढेर इतना
यह उठ जाय और। हाँ हाँ—

× × ×

अरे ऐसी भी
जल्दी क्या पड़ी है जो—

× × ×

बताऊँ तुम्हें ?—इनको
मृतक निहारने हैं। एक दिन बातों ही
बातों में कहीं पर दबेंगे, तब निज को
छिन्न-भिन्न देखने का औसर तनिक भी
पा नहीं सकेंगे।

× × ×

इन आज के प्रवीरों को
जीता रहने दो, फिर एक एक पल में
सब कुछ देख सकते हैं हम। आँखें ये

प्यासी ही रहेंगी नहीं।

× × ×

कोई इन ढेरों में
जीवित न होगा क्या?

× × ×

अरे हाँ, वहाँ कल ही
खोदा गया एक जन; तीन चार दिन से
धुस्स में दबा था वह।

× × ×

वृद्ध वह होगा हाँ!
अनुभवशील वही, मृत्यु के वरण में
करते उतावली नहीं हैं।

× × ×

युवा वह था।
उसके समीप ही था कोई और, जिसके
पिचल गये थे सब अङ्ग।

× × ×

आह! उसकी

बात छोड़ो।

× × ×

धन्य, अहा परम दयालु हो !

× × ×

क्या कहा–दयालु ?–भीरु ? धन्यवाद शतशः
युग के महान इन निर्णायक वीरों को।
इनकी कृपा से सभी ऐसे दृढ़ हम हैं,—
कोई बात, कोई दृश्य कर सकते नहीं
कातर कदापि हमें।

× × ×

एक ही कसर है।
वृद्ध हो कि बालक हो, मारे सब जाते हैं,
होने नहीं पाता उपयोग ठीक उनका।
खाद्य का अपव्यय है पाप,—इस बात को
जानते नहीं क्या वे ?

× × ×

ठिठोली यह छोड़के

जल्दी करो, जल्दी करो !

× × ×

जल्दी मरो, जल्दी रे !

डर अब किसका ?

× × ×

ठिठोली वही फिर से !

आ रही हैं श्रीमती वे। चुप !

× × ×

चुप रहके

काम किया जाता नहीं। चुप्पी भूमितल में

इतनी दबी है यहाँ, ऊपर भी चुप्पी हो

फिर क्या बचेगा भला ?

× × ×

मृदुला बहन वे

आ रही हैं, सावधान !

× × ×

चुप्पी देख उनकी

अच्छा नहीं लगता है। अच्छी बात होती जो

एक साथ रो रो कर एक कर देतीं वे
पृथ्वी और आसमान। तब यह धारणा
कर सकते थे हम—जीवित हैं उनको
भूमि से निकालना नहीं है हमें।

× × ×

हाँ-हाँ-हाँ;
जल्दी करो, सामने का काम निबटाना है।
(मृदुला दिखाई देती है)
बैठ यहाँ जायँ, आप दुर्बल बहुत हैं।
लेटी कुछ और रहतीं तो—

मृदुला

चली आई हूँ;
जान पड़ा ऐसा कुछ—

पहला कर्मकार

बैठिए तो पहले;
डगमग हो रही हैं आप।—यहाँ—

दूसरा

श्रीमती,

आपको क्या जान पड़ा ?

पहला

(संकेत से रोकता हुआ, धीरे से)

पूछो मत उनसे ।

सुनते रहो जो कहें ।

मृदुला

जान पड़ा मुझको,

मानो सामने से वह जा रहा है ।

तीसरा

ठीक है,

सामने से चामीकर जा रहा था ।

मृदुला

देखा है

तुमने भी ? कैसा—

पहला

बैठिए तो आप पहले ।

इसने कहा है वह चामीकर जाता था ।

मृदुला

चामीकर कौन ?—तब देखा नहीं तुमने।
मैंने अभी देखा उसे; वह हँसता हुआ
दौड़कर जा रहा था।

जानती हूँ भ्रम है
यह सब। तो भी जान पड़ता है सच ही
वह दिखलाई दे गया है इन आँखों से।

दूसरा

कौन दिखलाई दिया ?

पहला

(धीरे से)

पूछो मत उनसे।

मृदुला

रोको मत, रोको मत। क्या कहा हाँ—

पहला

इससे

मैंने कहा,—जल्दी करो काम में।

मृदुला

हाँ, जल्दी ही
काम करो। बैठती हूँ, चक्कर-सा सिर में
आ रहा है।

(बैठ जाती है)

पहला

चोट बड़ी आपको भी आई है।

मृदुला

चोट आई ? वह कुछ ऐसी नहीं। हाँ, हाँ, हाँ,
स्थान यह है वही,—हाँ, खोदो यहाँ झट-से।
बाहर की ओर जब जा रही थी, उसको
ठीक इसी ठौर पर खेलमग्न देखा था।
फिर से लो, जान पड़ता है,—वह है खड़ा;
जाती हुई बाहर मैं ले रही हूँ उसका
नमित प्रणाम, वह दोनों हाथ जोड़े है;
कहता है—'शीघ्र आना अम्ब !—जब लौटी मैं,
मेरे सामने ही गृह घोर शब्द करके
अररा पड़ा था; नभोयान वह नभ में

लुप्त हुआ चोर-सम तत्क्षण ही। ठीक से
देख नहीं पाई उसे।

कर्मकार

ऐसा यहाँ श्रीमती,
होता रहता है नित्य।

मृदुला

देखो, वहाँ फिर से
वह दिखलाई दिया—
जानती हूँ, भ्रम है।
भ्रम है तो देखूँ भी नहीं मैं उसे ? भ्रम में,
मन में लुका है जो, दिखाई पड़ जाता है।
देखूँ नहीं कैसे उसे ?

कर्मकार

भीड़ यह हो गई;
देखो निज काम सब।

मृदुला

ढील मत होने दो,
कहने यही मैं यहाँ आई हूँ।

कर्मकार

तनिक भी
ढील नहीं काम में है, लोग उसे स्वेच्छा से
करते हैं; कितनों ने एक घूँट जल भी
ग्रहण किया है नहीं।

मृदुला

जानती हूँ यह मैं,
कुछ भी छिपा नहीं है। यह तुम लोगों का
ऐसा श्रम, ऐसा त्याग, देखती हूँ जब मैं
मन में न जानें एक साथ क्या उमड़ता,—
भर-भर आता उर—

(आँखों से आँसू झरते हैं)

रोना नहीं चाहती।
मुझको जयन्त के समीप अभी जाना है।
यह मत सोचना कि पागल मैं हो गई।
सोचती-समझती सभी हूँ—

कर्मकार

यही दृढ़ता

हमको उठाये हुए ऊँचा है समर में।

मृदुला

एक बात कहनी है,—भूलना न इसको,
भूलने की बात नहीं।

कर्मकार

आज्ञा करें श्रीमती,
भूलेंगे कदापि नहीं।

मृदुला

कैसे तुम भूलोगे,
भूलने की बात नहीं।
क्या कहा था,-हाँ सुनो,
यह कहना है मुझे, देखो इस गृह के
नीचे दबी एक नन्हीं देह तुम पाओगे;
नन्हीं देह—भूल तो न जाओगे?—मृदुल है
फूल से भी—नन्हीं देह—तुम पहचानोगे
देखने के साथ उसे—

कर्मकार

देवी कहती हैं जो

हम सुनते हैं सब।

मृदुला

सुनते हो, तो सुनो;—
देखो वह नन्हीं देह, जैसे बने उसको
बाहर निकालना है। बाहर निकालोगे
उसको अवश्य तुम। ज्यों ही वह निकले
मुझको दिखाना उसे।—तुम चुप-से हो क्यों?
सुन तो रहे हो?

कर्मकार

सुनते हैं सब।

मृदुला

तब हाँ,—
मुझको दिखाओगे? अमूल्य वह धन है।
टूटकर छिन्न-भिन्न हो गया है, इससे
फेंक देने योग्य नहीं; मेरी मणि वह है—
मेरी मणि—

कर्मकार

मणि वह आपकी ही कैसे है;

हम सबकी है वह।

मृदुला

ठीक कहा तुमने;
तुम सबकी है वह। एक वार उसको
देख लेना चाहता हूँ। जानती हूँ उसके
मुख पर होगी वही पहले की मृदुता।
जान पड़ता है, उसी भाँति वह अब भी
दोनों हाथ जोड़के प्रणाममयी मुद्रा में
एक किसी ढूह के उदर मध्य है खड़ा।
उसको निकालना है।

(सब निस्तब्ध होकर सुनते हैं)

देखना है मुझको,
कौन पाप, कौन दोष नन्हीं उस देह के
भीतर छिपा हुआ है; शत्रु वह किसका;
किसकी बुराई कब की है कहाँ उसने ?
उसको पिलाया दूध मैंने इस छाती का
घोलकर शत्रुता का कैसा विष उसमें ?
तो मैं चीर डालूँ इसे—

कर्मकार

सुस्थिर हों श्रीमती,
भ्रान्त हो रही हैं आप।

मृदुला

भ्रान्त नहीं, स्थिर हूँ।
वैसी वह नन्हीं देह आज इस लोक में
ऐसी घोर शत्रुता के साथ है जनमती,
ऊपर से चोर के समान उसे छिपके
मारे बिना त्राण नहीं इस जगती का है।
दुर्दिन है ऐसा आज!
ज्यों ही वह निकले,
मर यदि जाऊँ इसी भाँति कहीं, तब भी
मुझको दिखाना उसे—
जीना चाहती हूँ मैं,
देख उसे लेना चाहती हूँ, मैं दिखाऊँगी
तुम सबको भी उसे। तुम सब देखोगे,
वह अकलंक देह इस भवलोक की
आज तक अपनी हुई थी नहीं; आई थी—

जानें अनजानें किस लोक से उतरके;
लाई थी वहीं का मृदुहास वह अपने
अङ्ग प्रति अङ्ग मध्य, जिसकी महक से
महक उठे थे सब। अब भी वहीं की थी,
अतिथि समान वह बीच हम सबके;
रक्षणीय सबकी धरोहर-सी वह थी;
इस धरती की नई भाषा अभी उसने
सीख तक पाई न थी।

देह वह नन्हीं-सी,
उसको निकालना है; जैसी वह निकले
वैसी उसी रूप में बचाये रख लेना है।
रखकर एक पारदर्शक पिटारी में
सबको दिखाऊँगी उसे मैं। यह पूछूँगी,—
मुझको बताओ अरे, इसमें छिपी कहाँ
मानवीय शत्रुता है?—वैरी यह नर का
नष्ट कर डाला गया,—मंगल मनाओ रे
मानव सभी के सभी!

नष्ट सब कुछ हों,
छोटे-बड़े ग्राम-पुर, सौध और कुटियाँ;
चाहती हूँ केवल बचाये तुम रखना
अपनी पिटारी वह। एक वही सर्वदा
बोलती रहेगी स्वरातीत किसी वाणी में:—
"आ रे जयी मानव, फिरा न मुख अपना,
देख यह तेरी चिर-कांक्षित जयश्री मैं
रक्षित यहाँ हूँ; नवमङ्गल मनाले तू;
तेरी उच्चता का, सभ्यता का, बुद्धि-बल का
मृत भी सजीव मैं महोच्च जयस्तर हूँ।"

एकान्त

गुणधर

तर-तर दीप्त प्रदीप्त शिखाओं में उच्छृङ्खल
बढ़ता-बढ़ता बढ़ा चला जाता है प्रति पल
यह अपार संहार। भयंकर यह दीर्घोदर
लेगा एक डकार कहाँ किस ठौर ठहरकर ?
इसकी भस्मक क्षुधा जठर-सीमा के बाहर
शिरा-उपशिरा, अस्थि-मांस-मज्जा तक जाकर
अंग अंग में छिटक पड़ी है सर्वग्रासी।
तू ओ भैरव, विकटकाय नर-रक्त-विलासी,
होगा अब भी क्षान्त न क्या क्षण के क्षण को भी ?
लुब्धक तू है महामांस का रसनालोभी,
धरती पर जो रहा सभी वह तूने लीला
तेरा आग्रह तदपि और भी उग्र हठीला।

छिन्न-भिन्न हैं उदधि बीच से तेरी गति से
चूम रही हैं चरण उरग-ऊर्मियाँ प्रणति से।
अप्रतिहत यह वेग निरख भय-संकुचिताएँ
आपस में ज्यों लिपट गई हैं दूर दिशाएँ।
महाकाश का छीन लिया यह शिविर बसेरा;
निपट शून्य पर बिछा हुआ सिंहासन तेरा
क्या अब भी है न्यून ?

अरे ओ हिंस्र लयंकर,
किस हिंसा का महा मद्य अविराम निरन्तर
पी पीकर, उद्दाम दीर्घ द्रुत प्रलय-प्रवर्तन
किये चला जा रहा,—निदारुण यह लय-नर्तन !
इस क्रीड़ा में साथ कौन तेरे खेलेगा ?
तेरा पादाघात और कब तक झेलेगा
यह भूमण्डल;—डोल उठा है डगमग डगमग,
खण्ड-खण्ड हो टूट-फूट पड़ने के लगभग।
नर्तित तेरा ऊर्ध्व लोक तक भुजा प्रसारण;
आशंका है, स्तब्ध विकम्पित ग्रह तारागण

उलट न जावें कहीं परस्पर ही टकराकर;
तेरे उड़ते जटा-जाल में डुबकी खाकर
तिमिर-सिन्धु में कहीं डूब ही जायँ न सहसा।
तेरा ताण्डव ताल-क्रिया से बहका-बहका
लिये जा रहा तुझे कहाँ, रे बेसुध पूरे ?
होगा क्या प्रकृतिस्थ नहीं हिंसक ओ तू रे !

हिंसक, तू रे महालोभ, प्रतिपल परिवर्द्धित,
तेरे नर में फूट पड़ा है दैत्य अतर्कित।
कितना दीर्घ दुरन्त रूप तेरा दुर्दर्शन,
नेत्रों से किस तीव्र वह्नि का यह परिवर्षण ?
इस ज्वाला में झुलस-झुलस जाते हैं कितने,
तलफ उठे सब दूर दूर भी जो हैं जितने।
मुख तेरा यह खोह,—विकट इसका विस्फारण,
किस असीम, किस अन्तहीन का वहाँ प्रसारण ?
जानें कितने ग्राम-नगर सब चूर्ण-विचूर्णित,
जानें कितने द्वीप खण्ड सब घूर्ण-विघूर्णित

जाकर उसमें पूर्ण रूप से हैं अन्तर्हित।
तेरे तीखे लौहदन्त अहरह संघर्षित
पीस रहे हैं एक साथ नारी-नर-बच्चे;
आबड़ में जो पड़े, पके, अधपके, कि कच्चे,
बिना भेद पिस रहे सभी तेरी दाढ़ों में।
नरशोणित की प्रलयकारिणी इन बाढ़ों में
डूब सके हैं नहीं अभी तक घुटने तेरे।
कितना महा विनाश अरे ओ घृण्य अरे रे,
अब भी है अवशिष्ट ?

जान पड़ता है मुझको,
इस हिंसा में विजित पदाहत करदे तुझको,
ऐसा हिंसक क्रूर नहीं है अपने भीतर।
प्रतिहिंसा की होड़ कठिन तर दुस्तर दुष्कर
करने में असमर्थ हमारे हैं सब साधन।
अर्पित हम कर चुके न जाने कितने जन-तन।
गिनती इसकी नहीं, वधिक की बलिवेदी से
कितने हुए गृहीत, मृतोपम ही अधपीसे

छिन्न-भिन्न विकलाङ्ग पड़े हैं बाहर कितने ।
आहुति के भण्डार हमारे थे जो जितने,
दिखलाई पड़ रहे आज के दिन सब सूने ।
निर्दयता के अनुष्ठान में हैं हम ऊने,—
इसकी लज्जा हमें ?

अरे यह लज्जा कैसी !
जीवन का यह पूर्ण पराभव, उसमें ऐसी
महा व्यर्थता प्रकट हुई है तल पर आकर ।
रुद्ध किया है पूर्ण हमारे पथ को छाकर
किस त्रुटि ने, किस महा दोष ने, कल्मष-कृति ने !
हिंसा के इस महामरुस्थल की विस्मृति ने
कर ली क्या उदरस्थ सभी जीवन-रस-धारा ?
उसका अविरल अमल स्रोत सारा का सारा
होगा यहीं विलुप्त, यहीं तक थी उसकी गति ?
पूछूँ किससे अरे आज मानव की उन्नति
अधोगामिनी एक साथ हो गई यहीं क्या ?
मानव में अब और सत्व-बल शेष नहीं क्या ?

झुका कि अब वह झुका,—यही दिखलाई पड़ता;
किंकर्तव्यविमूढ़, जड़ित है उसमें जड़ता !
सम्मुख आकर अड़ा खड़ा है यह सेनानी,
धृष्ट असंस्कृत हेय हिंस्र बल का अभिमानी।
प्रबल यही पड़ रहा आज जल-थल, नभतल में;
इस दुःशास दुरूह दुराशय के पदतल में;
नत हो चिर दासत्व करेगी वह मानवता;
क्या उससे निज नीर भरावेगी दानवता ?
मेरे मानव, बता मुझे, चुपचाप सहूँ क्या
यह तेरा अपमान ? इसी विध सतत दहूँ क्या
इस ज्वाला में ? हाय ! दृष्टि धुँधली है मेरी;
नहीं सूझती अरे कहाँ नव निष्कृति तेरी।

संचालन-शिविर

पुष्पदन्त

दो संवाद एक साथ हर्ष के, विषाद के,
मुझको मिले हैं अभी। आपस में दोनों का
द्वन्द्व युद्ध हो रहा है, किसको प्रथम लूँ ?
लिखती मृदुलिका है—उसने जयन्त की
सेवा प्राप्त की है; अब दो ही तीन दिन में
वैरी यह देखेंगे सविस्मय कि हम भी
घोर घनाघात-प्रतिघात कर सकते;
प्रत्युत्तर रूप वह्नि-विशिखों की धाराएँ
बरसा सकेंगे अनायास शत्रुदल पै।
फिर भी विलम्ब अभी दो या तीन दिन का
इसमें लगेगा और।

इन दिवसों में ही

विघटित और कुछ होता दीख पड़ता।
कंटकित दुर्गपंक्ति छिन्न-भिन्न करके
निर्मला नदी के उस पार शत्रु सेनानी
पहुँच चुके हैं; राजधानी पर उनके
तीव्रतर आक्रमण हो उठे सुगम हैं।
मन्त्रिगण स्तम्भित-से सोच नहीं पाते, क्या
करना उन्हें है, किस भाँति परिस्थिति को
ऐसे में सँभालें; प्रतिरोध-पोत उनका
झंझा से प्रताड़ित तरंगों के हिंडोले में
डगमग दीखता है; डूबा, अब डूबा ज्यों।

(गुणधर का प्रवेश)

गुणधर, आ गये हो? अच्छा सुनो, तुमको
एक महत्कार्य करना है।

गुणधर

सुनूँ पहले
कौन वह कार्य; जान लूँ कि वह कैसा है
मेरे करने के योग्य।

पुष्पदन्त

शीघ्र वायुपथ से
तुमको जयन्त के समीप अभी जाना है।
मृदुला वहीं है। तुम्हें यान्त्रिक से उसका
भस्मकास्त्र प्रस्तुत कराना अविलम्ब है।
योग्य इसके हो तुम्हीं।

गुणधर

खेद मुझे इसका,
कार्य यह मुझसे न हो सकेगा।

पुष्पदन्त

यह क्यों ?
जानता हूँ, मार्ग में विपक्षी के ठिकाने हैं।
सरल नहीं है यह, बीच में से उनके
पार चले जाना कहीं। तो भी यह प्राणों का
संकट उठाना ही पड़ेगा।

गुणधर

कहो कुछ भी,
जा नहीं सकूँगा मैं किसी प्रकार।

पुष्पदन्त

देह से
स्वस्थ तो हो ?

गुणधर

स्वस्थ ही हूँ, जानता हूँ जितना,
कोई रोग-दोष नहीं।

पुष्पदन्त

कौन तब बाधा है ?

गुणधर

समझ सकोगे नहीं, व्यर्थ होगा कहना।
ज्ञात भी तुम्हें है वह सम्भवतः।

पुष्पदन्त

ज्ञात है,
भीरु द्वीपद्रोही तुम, पुत्र के निधन से
भ्रष्टबुद्धि हो उठे हो। तुमसे तो धैर्य में
मृदुला ही श्रेष्ठ दीखती है, नहीं भूली जो
अपना विवेक-बोध वैसे उस शोक में।
क्या तुम बिसार चुके, यह जो सहस्रों की

संख्या में हमारी स्त्रियाँ बच्चे तक वैरी के
लक्ष्य नित हो रहे ? समक्ष इन सबके
क्या है वह क्षुद्र शोक ?

गुणधर

शोक कर पाता तो
लज्जित न होता कभी। वह तो पुरुष का,
काले रंग का ही सही, भूषण-कुसुम है;
जीवन का स्रोत नहीं सूखा जिस छाती का
खिलता उसी में वह। शोक नहीं मुझको।
जा नहीं सकूँगा मैं, यही है मुझे कहना।

पुष्पदन्त

जानते हो, आग्रह नहीं है यह बन्धु का ?
सेना के विधान से तुम्हारा अधिनेता मैं,
देता हूँ निदेश तुम्हें।

गुणधर

स्वीकृत नहीं मुझे
आपका निदेश यह,—यह कहते हुए
बन्धन से मुक्त हो गया हूँ आज सहसा।

मेरा मत जानते हैं आप, फिर सुनिए,—
वैसे मारकास्त्रों का प्रयोग रणस्थल में
वीरोचित कार्य नहीं; यह है अधम की
हिंसानीति; शूरता जो दीखती है इसमें
वह छलना है, भीरुता है छद्मरूपिणी।
प्राण-धन जाने का अमोह इसमें है जो,
वह है निषिद्ध लोभ निन्द्य द्यूतजीवी का।
थोड़े से लुटेरे जो अचानक के धावे में
पाते है विजयलाभ, लाभ वहीं इसका।
अन्य की असावधानी, अन्य की अबलता
वांछित जहाँ हो, वहाँ वीरता के गुण की
चर्चा भला कैसी कहाँ ?

पुष्पदन्त

सैनिक के मुख से
बात सुनी जाती नहीं; कर्म की ही वाणी से
बोलना सदैव पड़ता है उसे। फिर मैं
आज्ञा तुम्हें दे रहा हूँ। मोह से कि भय से
कायर बनो न तुम।

गुणधर

कायरता इसमें
दीखती नहीं है मुझे। जानता हूँ यह मैं
सैनिक है क्रीतदास; अच्छी-बुरी बातों में
वह चुपचाप है परानुगत सर्वदा।
आज्ञा के न मानने का फल मिलता है क्या,
यह भी भले प्रकार जानता हूँ; तब भी
मेरा एकमात्र वही उत्तर है।

पुष्पदन्त

विद्रोही
घोषित तुम्हें मैं करता हूँ। सुनो प्रहरी,
मृत्युदण्ड जिनको दिया गया है, उनका
साथी यह भी है एक, वन्दी करो इसको।

गुणधर

वन्दी नहीं, आज मैं विमुक्त मृत्युञ्जय हूँ।

शयन-कक्ष

मृदुला

कैसी तू अवसन्न अरी ओ मेरी क्रूरा ?
तेरा कठिन प्रयास हो चुका है वह पूरा।
कितने दिन ढल गये अतन्द्रित छोटे क्षण-से;
कितने घने निशीथ गल गये लघु हिमकण-से।
बाहर होता रहा मरण-मारण-कोलाहल,
रहा सुलगता कहीं हृदयदाहक दावानल।
कोई बाधा-व्यथा न तब भी मैंने मानी।
मैं जयन्त के निकट रही अविकल पाषाणी।
कुछ पहले ही हुआ अभी वह कार्य समापन,
मेरी अविरत कठिन साधना का उद्यापन।
पूर्ण हो गई यथा समय यान्त्रिक की निष्ठा।
वैमानिक उस महादैत्य की प्राणप्रतिष्ठा

देख चुकी हूँ अभी। अभी वह घोरान्दोलित,
घननिद्रा से महाजागरण में उत्तोलित,
घर्-घर करता हुआ उठा ऊपर नीचे से;
नेत्रों में निस्तब्ध प्राण अपने खींचे-से
हम सब उसको देख रहे थे। पल के पल में
बहुत दूर वह दीख पड़ा खग-सा नभथल में।
छोटा पड़ता हुआ तिमिर का-सा अक्षर वह,
जान पड़ा ज्यों उदित हुआ है यह काला ग्रह
उस ऊँचे पर वहाँ; और फिर जाना सबने,
निगल लिया है उसे कहीं पर सहसा नभ ने।

मेरे मूर्च्छित कुसुम द्वीप, जो कुछ था वश की
निभा चुकी मैं उसे; मरण-मारण के रस की
यह मात्रा भी तुझे कर चुकी हूँ मैं अर्पित;
होगा क्या परिणाम, तिमिर में है अन्तर्हित।
शिथिलित मेरे अङ्ग; मुझे अब तू सोने दे;
घन निद्रा में लुप्तप्राय सुध-बुध खोने दे।

भस्मक ने क्या किया, न यदि यह मैं सुन पाऊँ
तो इसमें क्या हानि ? पड़ी ही मैं रह जाऊँ ।

(सो जाती है । दूर पर तुमुल कोलाहल का
आभास होता है । सुप्तावस्था में छाया-
रूपिणी जागरिता का प्रवेश)

जागरिता

बहन उठो, तुम उठो,—नहीं बदलो यों करवट
सुनो सुनो, तुम सुनो, सामने ही है संकट ।

मृदुला

सोने दो तुम मुझे ।

जागरिता

नहीं सोने पाओगी;
रिपु सैनिक हैं निकट, पकड़ तुम ली जाओगी ।
शीघ्र यहाँ से निकल चलो ।

मृदुला

चिन्ता क्या, अब तक
पहुँच चुका है बहुत दूर अपना वह भस्मक ।

जागरिता

वह भस्मक नभयान लुप्त है कहाँ न जानें;
पता चला है, पहुँच नहीं वह सका ठिकाने।
कारणवश क्या कहीं बीच में उतर पड़ा वह ?
ज्ञात नहीं क्या हुआ,—
सुनो, सुनती हो तुम यह
कैसा भीषण शब्द हो रहा है ?

मृदुला

होने दो;
सोती हूँ मैं, तनिक मुझे सुख से सोने दो।

जागरिता

जागोगी तुम नहीं जगाने से यदि मेरे,
तो आकर वे विकट शत्रु सैनिक बहुतेरे
पदाघात से तुम्हें जगा देंगे झट। उनको,
तुमने जो कुछ किया, ज्ञात है। लो, यह सुन लो,
आ पहुँचे हैं निकट और भी ये सब कुत्सित !

मृदुला

सोने दो। यों मुझे जगाकर अरि सम्भावित

कृत्य तुम्हीं कर रहीं।

आज ही मैं सो पाई,
जागृति के उस भँवर जाल के बाहर आई।
निद्रित भी मैं यहाँ जागरित हूँ अपने में।

जागरिता

अपने में तुम कहाँ? यहाँ तुम हो सपने में।

मृदुला

अवनी पर से सत्य कर दिया गया वहिष्कृत,
सपने में ही उसे कर रही हूँ आविष्कृत।
मैं अविचल हूँ, कठिन शिला की मुझमें दृढ़ता,—
यहाँ नहीं स्तवगान मुझे यह सुनना पड़ता।
लज्जा मुझको नहीं, यहाँ यदि हूँ मैं नारी;
आकुल मुझमें यहाँ हो उठी है महतारी।
इन नयनों का नीर वहाँ पर किसी निठुर ने
छीन लिया था; यहाँ तृषातुर तापित उर ने
फिर से उसको प्राप्त कर लिया है। तुम जाओ,
मेरे पथ में यहाँ न संकट-सी यों छाओ।

(जागरिता अन्तर्हित होती है।)

मृदुला

बाल द्वीप यह;—यहाँ वृक्ष हैं कैसे बोने !
पशु-पक्षी सब दीख रहे हैं छोटे छौने।
इस पुर के गृह-भवन खिलौने-से लघु सुन्दर;
सुन पड़ता यह दूर अरे किसका कोमल स्वर !

(एक बालक के साथ ज्ञानधर
दिखाई देता है)

वत्स ज्ञानधर, देख यहाँ मेरे आमोदी,
मैं यह हूँ, यह शून्य पड़ी है मेरी गोदी।
आ तू, आ तू,—अरे नहीं सुनता तू मेरी,
भूल गया क्या मुझे, अरे मैं मैया तेरी।
पय का पीड़ा भार भरे कितना यह छाती;
सुन सुन, मेरी गिरा नहीं क्या तुझ तक जाती ?

(दौड़ कर पीछा करती है, फिर भी
बीच की दूरी वैसी ही रहती है)

ज्ञानधर

बहुत दिनों में मिले, कहाँ थे कहो सुलोचन ?
काला काला अरे तुम्हारा यह सारा तन !

सुलोचन

बन्धु कहूँ क्या, चला गया था दूर भटककर
किसी द्वीप के हरे-भरे कल्लोलित तट पर।
दृगरंजन था भव्य वहाँ का कोना कोना;
मिट्टी में से वहाँ उपज पड़ता है सोना!
रहते थे जो वहाँ, रूप में सुभग सलोने;
कौटुम्बिक कर मुझे प्रेम से लिया उन्होंने।
मुझे नीर की जगह हृदय का दूध पिलाया
मृदु ममता के साथ।

ज्ञानधर

याद कुछ मुझको आया,
हो आया हूँ वहाँ।

मृदुला

याद यह तेरी कैसी?
भूली-भूली बात कर रहा है तू ऐसी!

सुलोचन

फिर जो इसके बाद मिला उन सबका परिचय,
क्या मैं उनको कहूँ, नहीं कर पाता निश्चय।

सुन्दर सौम्य सुरूप देखने में वे मानव;
उनके भीतर छिपा कहीं है कोई दानव।
देखा दुर्बल जहाँ, वहीं संयम से छूटे
उसके ऊपर गिद्ध-सदृश ऊपर से टूटे।
अपने पैरों तले रौंद ले जो जितनों को,
जो जितना निज भृत्य बना ले अन्य जनों को,
वह उतना ही महावीर है, उसकी गाथा
युग युग तक इतिहास वहाँ का गाता जाता।
इतनी भीषण भीति व्याप्त है भीतर मन के,
छिपे हुए हैं मनुज वहाँ समरोपकरण के
लौह कवच में; यही प्रमुख वीरत्व वहाँ पर;
कर सकता है नहीं वहाँ प्रत्यय नर का नर।
भय-संशय से भरी हुई है प्रीति वहाँ की,
अविश्वास ही अविश्वास है नीति वहाँ की।
औरों के जिस हिंस्र भाव की निन्दा कर कर
थकते हैं जो नहीं, वही आने पर अवसर
कर लेते हैं ग्रहण स्वयं ही घोर हिंस्रपन;
हो कोई दुष्कृत्य, वहाँ है पूर्ण समर्थन !

ज्ञानधर

सोच रहा हूँ, नहीं ध्यान आता है पूरा,
मैं भी था क्या कभी वहाँ ?

मृदुला

यह हूँ मैं क्रूरा,—
सुन तू मेरे वत्स ! नहीं भूली मैं तुझको।
एक निमिष के लिए गोद भरने दे मुझको;
आ तू मेरे निकट।—हाय ! यह मेरी वाणी
सुन पाता तू नहीं।

सुलोचन

वहाँ के मानव प्राणी
बुद्धि-विभव से सतत किया करते उद्भावन;—
किस कौशल, किस यन्त्र-तन्त्र-विधि से संहारण
हो सकता है अनायास अधिकाधिक भारी;
ज्ञान-साधना यही आज उनकी है सारी।
विस्मित था मैं, अविश्वास होगा तुमको भी,
मनुज वहाँ है मनुज-मांस का लोलुप-लोभी,
निष्ठुर निस्संकोच।

ज्ञानधर

घृण्य चर्चा रहने दो,
कुत्सित कटु वीभत्स !

निरंजन

सुनो, मुझको कहने दो।
है उनकी आहार क्रिया पशुओं से विकसित,
वे सुसभ्य हैं, ज्ञान और विज्ञान समन्वित।
जब उनकी वह क्षुधा जाग उठती है उनमें,
तब अपनी दुर्वृत्ति पूर्ण करने की धुन में
कर देते हैं धर्मयुद्ध आपस में घोषित;
कहते हैं—हम न्यायबुद्धि से हैं उद्बोधित !
हिंसा में उल्लसित, गर्वघट अपने भरके,
निज नृशंसिनी क्षुधा तत्वतः पूरी करके
होते हैं वे पुष्ट !

सो रहा था शय्या पर
घर में मैं निश्चिन्त भाव से। सहसा जगकर
जाना मैंने, किसी हिंस्र जन ने घोरानल
बरसाई है। अग्नि काण्ड में व्याकुल विह्वल

मैं जीवित सुन गया। कहूँ क्या मैं वह पीड़ा;
उस भस्मक के विजयगर्व की थी वह क्रीड़ा,
जो इस तनु पर पुती हुई है बनकर गहरी
कलुष-कालिमा।

मृदुला

हाय! कहीं होती मैं बहरी,
तो सुन पाती नहीं क्रूर भस्मक की ऐसी
नाशकथा इस भाँति।

ज्ञानधर

अहाहा रुचिकर कैसी
आती है यह वायु कहाँ से? मिष्ट-मृदुल यह
लगती कितनी भली!

सुलोचन

ठीक कह रहे; अतुल यह
स्पष्ट और हो उठी। कहाँ से है यह आई?
उसी लोक की स्तन्यसुरभि जैसे यह लाई।
वहाँ यही तो अमृत।

ज्ञानधर

हो उठा है कैसा मन
करके इसका पान। किसीका स्नेहालिंगन
प्राणपवन में लिपट गया है भीतर-बाहर।
आकुल हूँ मैं ठीक इसे पहचान न पाकर।
किसका यह अज्ञात अलक्षित प्यार कहाँ से
आ पहुँचा है यहाँ अचानक !

सुलोचन

चलो, यहाँ से
निकल चलो झट।

ज्ञानधर

रुको तनिक तो—आहा आहा !
प्यासे को मिल गया अमृत-सा यह मनचाहा।
रुचता है क्या नहीं तुम्हें ?

निरञ्जन

कुछ नई उदासी
लाई है यह सुरभि। हृदय में नई व्यथा-सी
जाग उठी—क्या कहूँ—मधुर, अतिरिक्त मधुर है;

इसी बात से चित्त हो उठा चिन्तातुर है।
सुन्दर में भी मुझे मिल चुका है भीषण भय,
कर सकता हूँ नहीं किसीका भी अब प्रत्यय।
यह क्या तुम किस ओर खिंचे जाते हो?

ज्ञानधर

सहसा
सम्मोहित हूँ,—नहीं जानता हूँ मैं, यह क्या
मुझे हो गया।

सुलोचन

मोह मृदुलता का यह त्यागो,
सँभलो, तन्द्राच्छन्न न हो, स्थिर होकर जागो।
समझो माया मात्र, जहाँ पर हो कुछ अनुपम।
चलो, यहाँ से भाग चलें अविलम्ब अभी हम।
(ज्ञानधर को खींचता हुआ ले जाता है।
मृदुला चिल्लाकर जाग पड़ती है।)

वन्दी

गुणधर

मेरे हित यह दिवस आपमें एक अकेला
निस्सन्तति है;—निकट चली आती वह वेला
जो भविष्य में चल न सकेगी इस जीवन की
क्षुद्र गली में और; समय के परिक्रमण की
लघु परिक्रमा पूर्ण यहाँ होगी इस तन में;
अन्त-रहित चिरकाल इसी जीवन के कण में
रुकने को है।

नहीं नहीं, वह नित अप्रतिहत,
चला जायगा उसी एक निज गति से अविरत।
उसको जो निज मरण-मध्य कर दे क्षण-कुण्ठित,
उसका जीवन व्यर्थ, जन्म उसका है कलुषित।

पी लेती है धरा जिसे वह विमल वृष्टि-जल
व्यर्थ गया क्या,—नहीं नहीं उसका हरितांचल
नये खेत की शस्य-शालिनी में लहराकर,
लता-गुल्म की विकच हास-माला में छाकर
खिल उठता है नवल रूप यौवन में फिर फिर,
ओझल होकर लौट लौट आता है सुरुचिर।
हूँ मैं भी आश्वस्त, नहीं यों ही जाऊँगा;
हृदय-हृदय में भाव-सुमन बन खिल आऊँगा
विकसित होता हुआ सतत।

अब तक लेने को
कोई आया नहीं, मुझे पहुँचा देने को
वन्य भूमि में। व्यर्थ हो रही है यह देरी;
मैं प्रस्तुत हूँ। शेष यही वांछा है मेरी,—
जो जीवन निज कार्य कर चुका है परिपूरित,
उसके भीतर समय न हो यों व्यर्थ विलम्बित।
मेरा निस्संकोच अभीप्सित मरणालिंगन
जीवन की सब कलुष-कालिमा का प्रक्षालन

कर दे अब अविलम्ब।

आज कैसा सन्नाटा !
बाहर कोई नहीं आज क्यों आता-जाता ?
घटित हुआ क्या नया ? पवन जैसे यह अचलित
कान लगाकर बहुत दूर की सुनने के हित
साधे है निज साँस। शीघ्र जिनका विस्फोटन
होने को हो, उन शतघ्नियों का नीरवपन
भरे हुए है व्योम। तरंगित जीवनधारा
चलते चलते किसी कुण्ड की निश्चल कारा
में जैसे अवरुद्ध वहाँ हो गई अचानक।
लेने आया नहीं मुझे कोई क्यों अब तक ?

× × ×

[बड़ी दूर से किसी यान के उड़ने का-सा
स्वर आता है। उस कमरे में ताप मान
दुस्सह्य रूप से बढ़ जाता है।
अग्निकाण्ड की चमक दीख पड़ती है।
गुणधर जैसे दहता हुआ अचानक
मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है।]

विज्ञप्ति

(शत्रु पक्ष द्वारा घोषित)

समर समाप्त हो गया है आज सन्ध्या से ।
कुसुमचमू ने शस्त्र डालकर अपने
सन्धि के निमित्त कर अपना बढ़ाया है ।
तब भी कहीं हैं कुछ ऐसे व्यक्ति, जिनकी
समर-पिपासा नहीं शान्त हुई उनको
सूचित है,—यदि वे कुचक्र नहीं छोड़ेंगे;
मानेंगे पराजय तुरन्त नहीं अपनी;
दण्ड दिया जायगा कठोर उन सबको ।
अपर सभीको सावधान किया जाता है,
वैसे द्रोहियों के साथ सम्पर्कित होंगे जो
सैन्य नियमानुसार वे भी अपराधी हैं;
दण्डित वे होंगे सब ।

द्वीप की सुरक्षा का
भार आज से है न्यस्त मान्य अधिनेता के
हाथों में। विचार उनका है धरातल में
दुर्बलों का आधिपत्य निखिल अशान्ति का
कारण है, इनको हटाये विना भव में
शान्ति का प्रयास व्यर्थ, एक तन्त्र विधि की
स्थापना असम्भव-सी। उच्च लक्ष्य उनका
सफल हुआ है यहाँ उनकी विजय में।
विजय उन्हींकी नहीं, न्याय की विजय है।
मार्ग-अवरोध जो करेंगे कहीं उनका,
वे सब सँभल जायँ, सोच लें, समझ लें !

पराभव

एक नागरिक

बच्चों और नारियों को एक बड़ी संख्या में
भेजा जा चुका था किसी रक्षित ठिकाने में।
नगर हमारा उस नद के समान था,
जिसका अखण्डित प्रवाह किसी कुल्या से
खींचा जा चुका हो; वह क्षीण क्षुद्र रेखा-सा
सिमिटा हुआ था इस और उस तट के
दूर व्यापी कर्दम में।

नित्य नई बातों में
आते और जाते हुए अद्भुत स्वयं ही थे
हम सब; ऐसा न था कुछ भी जो हममें
विस्मय का भाव भरे। छोटे-बड़े गेहों के
अस्थिपंजरों में हम लोग भीति-भय से

होकर अतीत, मृत्यु में से जगे भूतों की
भाँति हो गये थे।
समाचार सुना हमने,—
एक महायान कहीं मृदुला बहन ने
प्रस्तुत कराके किया अर्पित है सेना को।
एक ही अकेला वह बीस बीस यानों का
सामना करेगा, कर देगा भस्म पथ का
कूड़ा-कचरा जो जहाँ। आशा का प्रदीप ज्यों
अधिक प्रदीप्त हुआ निर्वापन वेला में।
एक याम बीता नहीं और सुना सबने,
आकस्मिक कोई बात हो रही घटित है;
शत्रुओं ने आज एक दूर के नगर में
घोर अग्निकाण्ड कर डाला, उस अग्नि की
लहर यदा कदा यहाँ भी बोध होती है।
मन्त्रिगण मन्त्रणा में रत हैं। तुरन्त ही
कोई बड़ा निर्णय करेंगे वे।
पवन में
भारीपन जान पड़ा; मानों बहु ग्रीष्मों की

दाहमयी ऊष्मा घोल दी गई हो उसमें ।
देखा सामने जो, एक गृह था धधकता;
और वह दूसरा भी ! ज्ञात हुआ हमको,—
सारा वायुमण्डल महेन्धन सदृश है,
अग्निशिखा यत्र तत्र फूट पड़ी जिसमें ।
जा रहे थे दूर कुछ नारी-नर पथ में,
दीखे वे अचानक ही भूमि पर गिरते ।
बोध हुआ मुझको कि मैं भी गिरने को हूँ,
सँभला तथापि शीघ्र ।

क्रमशः पवन में
शीतलता आई, वह अग्नि का झकोरा-सा
निकल गया था दूर । आश्वसित होने का
समय तथापि न था । एक ही निमिष में
देखा फिर, दुर्ग पर ऊँची फहराती थी
कुसुम-पताका जो, शताब्दियों का जिसने
वृष्टि-ताप सहन किया था; घन झंझाएँ
निकल गई थीं जिसे छूकर झटित ही;
कुसुम-पताका वही,—जिसकी प्रतिष्ठा में

द्वीप की प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठित युगों से थी;
कुसुम-पताका वही,—हाँ हाँ वही, जिसमें
द्वीप का हृदय ही असली मध्य उठके
लहर रहा था वहाँ,—एक साथ उसमें
ज्वाला दिखलाई पड़ी और बुझ भी गई
मध्य में बड़ा-सा छिद्र मात्र एक करके।
क्षण क्षण बाद अनजाने वह्नि-शर से
छेद इसी भाँति कितने ही अब हो चुके,
तब वह योद्धा जो कहीं के अन्तराल से
वेधन-क्रिया का रंग ले रहा था, उसने
जो कुछ बचा था, उसे शीघ्र भभका दिया।
सूखे ठूँठ जैसा उच्च दण्ड हम सबके
सम्मुख खड़ा था वहाँ।
उस दिवसान्त में
हम सब यन्त्र के समक्ष महामात्य की
वाणी सुनने को साँस रोक कर थे खड़े।
"बन्धुजन!"—हाँ हाँ उनका ही यह स्वर था—
"बन्धुजन, आत्मार्पण आज करना पड़ा

द्वीपवाहिनी को,—आज कुसुम-पताका को
नीचे झुक जाना पड़ा"—
डोल उठी नीचे की
भूमि, मानो डोल उठा ऊपर का नभ भी,
जान पड़ा रुद्ध गति हो गई हृदय में।
यह क्या हुआ है अरे; हो गया है यह क्या?
सब कुछ होगया समाप्त आज तब तो!
व्यक्ति का महा प्रयाण आप इन आँखों से
देखा था अनेक बार, देखा न था हमने
इस विध एक पूरे द्वीप के निधन को।
आँखों के समक्ष हुआ लक्षित तिमिर-सा।
बोले जा रहे थे महामात्य, सुना हमने—
"बन्धुजन, आज इस रण की समाप्ति है,
तो भी कहना है मुझे—वीरता के बल से
हमको हराया नहीं जा सका है; हमने
संकटों के भीषण कठोर घनाघातों में
द्वीप की प्रतिष्ठा कहीं म्लान नहीं होने दी।
अब भी हमारी शक्ति हममें अजेय थी;

कौशल के जाल में फँसाके छद्म-छल से
हस्तगत उसको किया गया है। हमने
शत्रु से न खाकर स्वयं से हार खाई है।
आज मैं बिदाई ले रहा हूँ आप सबसे।
मेरे प्रात, मध्यदिन और यह सन्ध्याएँ
आजीवन अर्पित रही हैं सर्व-सेवा में।
आज इस काल-रजनी में मैं नियति से
फेका जा रहा हूँ दूर। आज की बिदाई में
तोष मुझको है यही—रात बड़ी भारी भी
रहती नहीं है नित्य; आती स्वर्ण वेला है
जगमग जागकर।

प्रत्यय है मुझको—
द्वीप की नहीं है हार, हार यह मेरी है।
आपमें से कोई किसी माङ्गलिक वेला में
आकर नवीन बल-बुद्धि से, महत्ता से
आज की पराजय को जय में बदल दें,
मेरी यही कामना है।

भावी उस जेता को

आज का पराजित मैं रुद्ध निज वाणी से
अर्पित प्रणाम किये जाता हूँ विनय से;
उस महदात्मा के लिए ही मैं नमित हूँ।
अच्छा नमस्कार !"
एक साथ हम सबकी
आँखें भर आईं, हम मूक, अवसन्न थे।

× × × × ×

पूर्ण अधिकार शत्रुओं का है नगर में।
चारों ओर शत्रुओं के सैनिक टहलके
स्थापित किये हैं शान्ति। शान्त स्वयमपि हैं
हम सब द्वीपवासी; मानों मरघट में
करके चितार्पित पिता को, आत्मजन को,
आप में हों खोये हुए; रोने नहीं पाते हैं;
रोदन है राजद्रोह,—होता न जो तब भी,
रोने योग्य कुछ भी नहीं है शेष हममें;
यह भी लुटा है आज।
दुर्ग पर वैरी की

रक्ताङ्कित खड्ग चिह्न धारण किये हुए
नूतन पताका फहराती है पवन में।
दृश्य यह देखने को, और सुन लेने को
एक मात्र बात यह—द्वीपवासी कितने
मारे गये, बन्दी हुए, आज किन किनको
घोषित किया है अपराधी नई सत्ता ने
ऐसे अपराधियों में एक मृदुला भी है।
सब अधिकारियों की सेवा में पहुँच के
पूर्वकृत दोष के निमित्त क्षमा याचना
करनी उसे है,—अपराध बड़ा उसका।
द्वीपवाहिनी को महायान एक उसने
अर्पित किया था,—वह बीच में बिगड़के
नीचे नहीं आता और लौहजन उसको
निज अधिकार में तुरन्त जो न करते,
होता बहु रक्तपात,—रक्तपात नर का,
सबसे बड़ा जो पाप!

वह अपराधिनी
आगे में अचानक ही दीख पड़ी मुझको।

यह मृदुला है—पहचान उसे सहसा
मैं भी नहीं पाया। तीक्ष्ण दृष्टियों से बचके
ले गया उसे मैं पास ज्यों त्यों गुणधर के।
शत्रु से प्रसारित अलक्ष्य अग्निज्वाला से
दग्ध उनका है देह। शय्या पर अपनी
पीड़ा तक भूलकर निश्चल पड़े थे वे।
देखकर पति की अवस्था यह भय से
काँपकर चीखी वह;—जैसे किसी जन ने
आग जो लगा दी थी स्वयं ही किसी निद्रा में,
जागकर देखी वह अपनी ही आँखों से।
चेतना की क्रूर कशा खाकर, अचेत हो
वह अविलम्ब ही मही पर पतित थी।
मुझको प्रतीत हुआ,—द्वीप की अधिष्ठात्री
भूमि पर मूर्च्छित पड़ी है कहीं ऐसी ही।

उन्मुक्त

गुणधर, मृदुला और पुष्पदन्त

पुष्पदन्त

क्लान्ति रहित अविचलित अहर्निश सेवा करके
जैसे ज्वालाग्रस्त किसी गृह के भीतर से
निस्संशय यह तुम्हें खींच लाई है मृदुला
संकट के इस पार। साधना इसकी अतुला
मानो पूरी हुई।

याद यह होगा गुणधर,
उस दिन मैंने मरणदण्ड की आज्ञा देकर
तुमको कारा-रुद्ध कर दिया था। यह तब तक
कुसुम द्वीप में उलट-फेर हो गया अचानक।

हमने वह जो भस्मकास्त्र ज्वालामय अद्भुत,
शत्रु-नाश के लिए कराया था द्रुत प्रस्तुत,
वह वैरी के हाथ पड़ गया, उसके द्वारा
सहसा विघटन घटित हो गया है यह सारा।
अच्छा ही यह हुआ, कर सके निज में अनुभव,
है कैसा पाशविक हिंस्र ज्वाला का ताण्डव।
इस अविजय में बात आज यह हमने जानी—
प्रतिहिंसा में छिपा हुआ निज का अभिमानी
कोई हिंसक क्रूर स्वयं हममें बैठा था;
जो वैरी में, वही हमारे में पैठा था।
हार हमारी हुई, हेतु इसका है केवल,—
हममें कपट, असत्य, पाशविक हिंसा का बल
वैरी जितना न था। पराजय की असफलता
धक्का देकर हमें हमारी यह निर्बलता
बता गई है आज। इसी निर्बलता में हम,
करते हैं उपलब्ध पुनः पुरुषार्थ पराक्रम।
जब तब तुममें दिया दिखाई यह ज्यों जागृत,
हमने इसको किया अवज्ञा से अस्वीकृत;

बन्दी करके लिखित मृत्यु का दण्ड सुनाया;
युग युग में यह क्रूर वह्नि से दहता आया
बन्धु, तुम्हारी भाँति। आज की इस अविजय में
अनुभव मैंने किया अटल अभिनव प्रत्यय में—
पौरुष है अविजेय।

भयंकर हिंसानल में
यह जो हत्याकाण्ड गगन में, जल में, थल में
परिवर्द्धित इस भाँति,—नहीं यह भी है निष्फल।
जीर्ण-ज्वलन में और मरण-धारा में निर्मल
पुनरुज्जीवित मनुष्यत्व हो उठा हमारा।
द्वीप-द्वीप की वर्ण-वर्ण की कुंचित कारा
रुद्ध किये थी इसे। आज गिरि-नद-सागर के
सीमाबन्धन टूट गये हैं अवनी पर के।
हम सब जैसे एक जहाँ जितने भी पीड़ित,
मानो किसी असीम अतुल में हैं सब प्रसरित।
हार मानकर नहीं बैठ रह सकते हैं अब,
एक हार में एक सूत्र से विजड़ित हैं सब।

कुसुम द्वीप के हेतु चढ़े हिंसा के रथ पर
हम उस दिन थे बढ़े विजय के दुर्गम पथ पर।
लेकर क्षणिक विराम यहाँ तिमिरान्ध निशा में
करना है प्रस्थान आज फिर नई दिशा में,
केवल निज के लिए नहीं; निज का निजपन सब
निखिल विश्व के साथ हुआ है सम्बन्धित अब।
रह सकता है कौन निभृत में चिर निष्काषित,—
कथन तुम्हारा हुआ आज प्रत्यक्ष प्रमाणित।
हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिरसत्य आज यह नूतन होकर—
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युतर।
पाकर इसको शक्ति-बोध हो रहा अपरिमित,
इसे ग्रहण कर पुनः समर-पथ पर हूँ प्रस्थित;
बिदा करो हे बन्धु!

जानता हूँ निस्संशय,
प्रतिपक्षी है घोर रूप में निर्मम निर्दय।

इसका भय क्या ?—रक्तपात हम नहीं करेंगे,
झेलेंगे सब स्वयं, अहिंसक मरण वरेंगे।
हिंसक भी है नहीं निरा दानव ही दानव;
सोया है अज्ञान दशा में उसका मानव।
चेतेगा वह नहीं ग्राम्य गुरु के ताड़न से।
रोष रहित सप्रेम स्वयं के कष्ट सहन से
कर उसका उन्नयन स्वयं उन्नत होंगे हम।
पग पग पर हैं कठिन कष्ट, संकट भीषण तम,—
तो क्या होकर त्रस्त ग्रहण कर लें हम जड़ता ?
पौरुष को खर खड्ग धार पर चलना पड़ता,
खरी कसौटी एक यही उसकी है निश्चित।
उसकी हममें कमी नहीं,—कर चुके प्रमाणित।
रक्तदान से अटल हमारा शौर्य अशंकित,
इसी भूमि के एक एक कण पर है अंकित।
झुका अन्त तक नहीं उच्च जयकेतु हमारा,
किया गया है दग्ध ओट से छल के द्वारा।
उसमें अपना प्राण पुनः हो जाय प्रतिष्ठित,
उसमें सबकी अभय-शान्ति हो जाय अधिष्ठित,

यही इष्ट है आज।—पुण्य के इस अवसर पर
निस्संशय निज भूल-भ्रान्ति का संशोधन कर
करूँ मंगलारम्भ।
मरण के दण्ड-दमन से
करता हूँ अनुमुक्त तुम्हें त्रुटि-मार्जित मन से।
नव गौरव से दीप्त तुम्हारा मरणस्पर्शित,
यह संजीवन सत्य-अहिंसा में उत्कर्षित,
है हम सबकी मुक्ति।

गुणधर

बन्धु, तुम पूर्ण सफल हो!
इसी भाँति पर-दलित निपीड़ित वसुधा तल को
तुम कर सको प्रदान मुक्ति-स्वातन्त्र्य अकलुषित!

पुष्पदन्त

अनुगृहीत हूँ।
बहन मृदुलिके, होकर हर्षित
दे अब तू भी बिदा। आज के महामथन में
कालकूट जो उछल पड़ा है भीत भुवन में,
करके उसका पान हो सकें हम मृत्युंजय,

अन्य सभीके लिए कर सकें हम निस्संशय
निर्भयता का दान।

मृदुला

तात, हो विजय तुम्हारी !
यह पीड़ा, यह व्यथा मानवात्मा की सारी,—
जिसका अनुभव मुझे स्वयं है अपने भीतर,—
हरण कर सको, अमृत हलाहल में से पीकर।
कर दूँ, आओ, आज तुम्हें कुंकुम का टीका,
सबके हित में लाभ करो नव विजयश्री का !

चिरगाँव
चैत्र अमावस्या १९९७

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.